२ आ।६।

॥ ॐ अर्ह ॥

शिवमस्तु सर्व जगतः

सर्वत्र सुखी भवंतु लोकाः ॥

परहित निरता भवंतु भूतगणाः ।

श्रीमद् उमेदविजय ग्रन्थमाला अङ्क ३

॥ अर्ह ॥

समाधिशतकम्

अनुवादक.
उ. ला. एल. शाह.
सम्पादक. । वी. पी. सिंघी.
श्री. देलंदर निवासी.

रा. रा. शेठ वालचंदजी उमाजीकी
द्रव्य सहायतासें.

प्रकाशक.
श्री ज्ञानप्रसारक मंडल.
सेक्रेटरी.
सिरोही. (राजपुताना.)

धी 'सीटी' प्रीन्टींग प्रेसमां शा चंदुलाल
छगनलाले छापी ढालगरवाडा-अमदावाद.

वीर संवत २४५२ सने १९२६

मूल्य ४ आना चार.

अर्पण पत्रिक

प्रातः स्मरणीय चारित्र चूडामणि सकल सद्गुण गरिष्ट महात्मा मुनि माहाराज श्री जयविजयजी माहाराज.

आपश्रीने सरस्वतीको सम्पादनकर तथा जैन धर्म्म जैसे सर्वोत्कृष्ट धर्म्मके तत्वोंमें प्रवेशकर जैन प्रजापर महान उपकार कीया है. और कर रहे है। हिन्दी जैन साहित्य पर आपका अनुपम प्रेम आपके उपदेश तथा परिश्रम द्वारा प्रगट होता है. श्री हिन्दीजैन ज्ञान प्रसारक मंडल तथा जैन पुस्तकालयके वारंवार सहायक बनकर आपने उसके अभ्युदयके अर्थ जो २ प्रयास किये है और कर रहे है वेही आपके हिन्दी साहित्य प्रतिका अनुपम प्रेम प्रगट कर रहे है। जैन साहित्यके संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थोंका हिन्दी तथा औरभी प्रचलित भाषाओंमें भाषान्तर कर जैन साहित्यको सर्वत्र फैलानेके लीये स्थान२ पर आपने उपदेश दीए है। इतनाही हो नही परन्तु आप इस कामको करानेके लीये उत्सुक है जिसमे बहुत कुछ आप फलीभूत हुए है और येही कारण है कि इस पुस्तकको श्रीमद् उमेद विजय ग्रन्थमाळाका तीसरे अंकके रुपमे यह संस्था प्रगट करने में फतेहमंद हुई है। आपने चर्म तीर्थङ्कर महावीर

प्रभुके शासनसे चारित्ररूपी बख्तरको पहिनकर प्रबल शत्रुके पंजेमेसे बचानेके लीये आत्तम सत्ताको अखंड कायमें लाकर बडा उपकार कीया है। इन अनेक सद्गुणोंसे आकर्षित हो कर श्री समाधिशतक नामके ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद भक्तिभाव पूर्वक आपश्रीके कर कमलमे समर्पण कर यह संस्था अपने आपको भाग्यशाळी समझती है।

श्री जैन ज्ञान प्रसारक मंडल,
सिरोही (राजपुताना).



निवेदन.

प्रिय बन्धुओ बडे हर्षके साथ आज आपके सामने श्री उमेदविजय ग्रन्थमाळा के तीसरे अंङ्क के साथ उपस्थित होता हुं आपको विदित ही है के उपरोक्त ग्रन्थ माळाके तीसरे अङ्क मे जैनकथा रत्नकोष प्रगट होने वाळीथी लेकीन कितनेक अचिन्तय कारणो से पुस्तकको प्रगट न कर सके। अत एव अब उसके बदलेमे भी समाधि शतकम आपके सनमुख पेश करता हुं के आप विशेष पसंद करेंगे.

इस पुस्तकको प्रकाश करानेमे श्रीमान शेठ वालचंदजी उमाजी देलंदर निवासीने श्रीमद् मुनी माहाराजजी श्री जय विजयजी के सद् उपदेशसे अच्छी साहता दी है अत एव यह संस्था उपरोक्त मुनी राज तथा शेठजीका स हर्ष उपकार मानती है। आशा है के इसीभांती हमारे श्रीमान शेठ तथा उदारदाता ज्ञानके प्रचार करानेमे बडी उमङ्गसे साहता करेगे।

सिरोही (राजपुताना)
वीर सं. २४४२
पोष शुक्ल १२

सेक्रेटरी
श्री जैनज्ञान प्रसारक मंडल.
सिरोही (राजपुताना.)

प्रस्तावना

चतुर्गति रूप संसारमें जीवो कर्मके वशसें वारंवार परिभ्रमण करके अनंत दुःख पाते हैं, जब कर्मका नाश होता है तब जीव मोक्षपद प्राप्त करता है अनंत कालसें लगा हुआ कर्मका नाश करनेकुं श्री तीर्थंकर देवें. व्यवहार और निश्चय पुरस्सर आत्म धर्मका सेवन (आचरण) प्रतिपादन कीया है. व्यवहार नयसें श्री चतुर्विध संघका प्रवाह सदा विद्यमान रहता है. और निश्चय नयसें आत्म धर्ममें प्रवेश होता है प्रत्येक वस्तु अनेक धर्ममय है, इस वास्ते उसका स्वरूप सात नयसें अनेकांत जाता जाण है सप्तनय सप्तभंगीका स्वरूप यथार्थ जाणनेसें अेकान्त दुराग्रह रूप मिथ्यात्वका नाश होता है वीतरागका वचन सापेक्ष वर्तता है. सापेक्ष बुद्धिके अभावमें तत्त्व स्वरूपका प्रमाण नहिं होसक्ता जो भव्य प्राणीनें सात नयसें तथा सप्त भंगीसे वस्तुरूप जाण्या है. वह यथार्थ ज्ञानी (सत्यज्ञानी) जाणना अनेकांत मत सदैव जगतमें विजयवंत वर्तता है अब समजनेका यह है के अनेकांत मतका ज्ञान प्राप्त करके भी स्व स्वभावमें रमणता करना स्व स्वभावमें रमणता करनेका मुख्य कारण (हेतु) अध्यात्म ज्ञान है विना अध्यात्म ज्ञान यथार्थ समाधि प्राप्त नहीं होती है अत अेव अध्यात्म प्राप्त ज्ञान करनेके लीये अहर्निश यत्न करना चाहिये,

आत्मज्ञानसें बहिरात्म भाव छूट जाता है. और आत्मा अपना स्वरूपाभिमुख प्रवृत्ति करता है अध्यात्म ज्ञानसें अंतर शुद्धि होती है यह (मनुष्य) एकान्त व्यवहार में लीन होकर अध्यात्म ज्ञानको तिरस्कार करता है वह भूल करता है. और उसी तरह यह आध्यात्म ज्ञानका उपर उपरका रागसें अध्यात्मी बनकर उचित क्रियानुष्ठानका त्याग करता है; वह जीवोभी भुलही करता है " ज्ञान क्रिया भ्यां मोक्षः " इति वचनात् ज्ञान और क्रिया दोनु हिसें मोक्षकी प्राप्ति होती है विना ज्ञान क्रिया इच्छित लाभकुं नहि देती; और विना क्रियाका ज्ञानभी इच्छित लाभकुं नहिं देता है. इसलिये ज्ञान और क्रिया ए दोनुंका सेवन (आचरण) करना चाहीये. व्यवहार मार्गका सेवन करने योग्य है. प्रथमसेंही कुच्छ अध्यात्म ज्ञानी बन नही सक्ता. श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय जीनें व्यवहार और निश्चय गर्भित बहुत ग्रन्थो कीये है " समाधिशतक " नामक यह ग्रंथभी उसी महात्मानें बनाया है. मूल समाधिशतक एक संस्कृत भाषामय ग्रंथ है उसपरसें कितनाक सुधारा वधारा करके बाल जीवोकुं बोध होनेके लीये भाषामें श्री यशोविजयजी उपाध्यायजीनें रच्या है. श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय विक्रम सवंत् १७४० (सत्तरसें चालीश) किंशालके अरसेमें विद्यमान था-

उस महात्मानें बार वर्ष पर्यन्त काशीमें रहकर विद्याभ्यास कियाथा. वह महात्मा न्यायशास्त्रमें महान् समर्थ विद्वान थें ऐसा उस्का बनाया हुआ ग्रन्थोसें मालुम होताहे. उपरोक्त महात्मानें शत (१००) ग्रन्थोकि रचना की है. उक्त महान् पुरुषका विहार सुरत, रांदेर, भरुच, निकोरा, बडोदरा, डभोइ, पादरा, कावी, गंधार, खंभात, अमदावाद, पट्टण, संखेश्वर, वढवाण, वला, पालीताणा, सिद्धक्षेत्र, भावनगर, घोघा तथा मरुधर, (मारवाड), सिरोही, आबु, (पालडी,) पाली, जोधपुर, बीकानेर, नागोर, अजमेर, जयपुर, दील्ली, आगरा, कानपुर, लखनौ, अयोध्यापुरी, काशी, वगैरह स्थानोमें हुवाथा. ऐसा अनुमानसें सिद्ध होता है. श्रीमान् उपाध्यायजी महाराज धर्मधुरंधर समर्थ ज्ञानी थें. ऐसाभी उसका रच्या हुवा ग्रंथोसें मालुम होता है. उस महात्माके समयमें अध्यात्मज्ञानी श्री आनंदघनजी महाराज विद्यमान थें श्री आनंदघनजी महाराजकी स्तुतिरुप अष्टपदी उपाध्यायजीनें रची है. श्री यशोविजयजीकें समयमें श्रीविनयविजयजी तथा श्रीज्ञानविमलसूरीजी तथा श्रीसत्यविजयजी पन्यास तथा दूसरेभी विद्वान मुनीश्वरो हयातीमें थे. सतरमें (अठारवें) शतकमें ज्ञानना बहुत उद्योतथा श्री उपा-

ध्यायजी महाराजने बडोदरेकी पास डभोई गांवमें देहोत्सर्ग कीयाथा. वहां उपाध्यायजीकि पादुका हालमेंभी है.

इस महात्मानें रच्ये हुवे कितनेक ग्रंथोंके नाम.

भाषामें रच्ये ग्रन्थो.

(१) सवासों गाथाका स्तवन (२) डेढसो गाथाका स्तवन (३) साडेतीनसो गाथाका स्तवन (४-५-६) तीन चोविशीओं. (७) विहरमानजीन स्तवन विशी (८) समकितके सडशठ बोलकी सझाय (९) अठारह पाप स्थानककी सझायां (१०) द्रव्यगुण पर्यायका रास (११) समताशतक (१२) सगाधिशतक (१३) पट् स्थानक चोपाइ (१४) दिगपट चउरासी ८४ बोलविचार (१५) पद बहोतेरी (१६) जशविलास (१७) अष्टपदी (१८) आवश्यक स्तवन (१९) मौन एकादशी स्तवन (२०) समुद्र वहाण संवाद (२१) जेशलमेर कीता पत्र (२२) अन्य सझाय संग्रह (२३) दशमता स्तवन (२४) ज्ञानसारटब्बो (कच्छ कोडायमें है ऐसा सुणनेमें आया है) (२५) जंबुस्वामीका रास (२६) श्री श्रीपाल, रास (उत्तर भाग) (२७) तत्वार्थ बालावबोध (२८) शठ प्रकरण (२९) हुंटीका स्तवन वगेराह.

संस्कृत ग्रन्थो.

(१) गुरुतत्व निर्णय (२) भविपाशतंक (३) अध्यात्म परिक्षा (४) खडंनखाद्य (५) भाषा रहस्य (६) उपदेश रहस्य (७) द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका (८) धर्म परीक्षा (९) नयोपदेश (१०) समाचारी (११) वैराग्य कल्पलता (१२) ज्ञानबिंदु (१३) न्यायालोक (१४) शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका (१५) अध्यात्म मत दलन (१६) मुक्ताशक्ति (१७) ज्ञानसार (१८) जैनतर्क परीचय (१९) षोडषकटीका (२०) मार्ग शुद्धि (२१) महावीर स्तवन (२२) स्याद्वाद कल्पलता (२३) यति लक्षण समुच्चय (२४) प्रमाण रहस्य (२५) विचार बिन्दु (२६) अध्यात्मसार (२७) १०८ बोल (२८) १०१ बोल (२९) अनेकान्त व्यवस्था (विधिपक्ष वाद) (३०) अष्टसहस्रीटीका (३१) आदि जिन स्तवन (३२) आत्मख्याति वगैरह–इससें अन्यभी ग्रन्थो उस महात्माका बनवाया हुआ थाके जो इस वखत मिलते नहीं है. उसका नाम यह है.

छंद चूडामणीटीका (२) मंगलवाद (३) विधिवाद (४) स्यादाद (५) लता द्वय (६) ज्ञानार्णव (७) मार्ग शुद्धि पूर्वार्द्ध (८) सिधान्त तर्क परिष्कार (९) पातंजल कैवलपाद वृत्ति. श्रीसूत्र्या लोक. इत्यादी; महान् ग्रन्थोका बनानेवाला, समर्थ विद्वान् अध्यात्म ज्ञानी. श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्यायजीका

बनाया हुवा यह ग्रन्थ है. आत्मार्थी जीवोकुं यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है. यह ग्रन्थका एक एक दोधकभी बहुत उपकार करनेवाला है. श्री उपाध्यायजी कि, भाषारुप वाणीभी अति गंभीरार्थ है. यह महात्माका रच्याहुवा दोधकोका सत्य अर्थ तो वह महात्मा-वा-ज्ञानी गीतार्थहि जान शक्ता है. तोभी उस महात्माका दोधकका योगनिष्ट जैनाचार्य. श्रीमद् बुद्धि-सागर सूरीजीकृत विवेचनके अनुसार यह विवेचन हिन्दी भाषामें कीयागया है.

समाधि शतक मुल संस्कृततमें दिगंबरी है, उस्के श्लोक भी इस ग्रन्थमें दाखल कीये गये है.

इस ग्रंथकु हिंदीमें यह कारणसें हि कीया गया है कि गुर्जर भाषा मरुधर (मारवाड) पंजाब, पूर्व, बंगाल, मेवाड वगेरह देशोमें लोक (बन्धुओ) नहीं पढ शक्ते है. और उक्त देशोमें विना हिन्दी भाषा समजभि नहीं शक्ते है. यहही इस पुस्तक हिन्दीमें छपानेका मुख्य उद्देश है.

इस पुस्तक छपाते जो प्रुफ तपासनेमें या छापेके मेसदोषमें या द्रष्टीदोषादिसें अशुद्ध रह गइ हो वह दूर कर उसकुं सुधारकर हंस चंचुवत् सारग्राही बनो वह सज्जनोंसे अंतिम प्रार्थना है.

इस पुस्तक छपानेमें जो खर्चा लगा वो सब मारवाड सिरोही जिल्ला नगर देलंदर निवासी रा. रा. श्रीयुत शेठ बालचंदजी उमाचंदजीनें दीया है इस वास्ते उस महाशयका अंडल उपकार मानता है. [श्री जैन ज्ञानप्रसारक मंडल.

सज्जनोंका सेवक.

ता. १७-४-१६ } ताराचन्द्र दोसी.
सिरोही. } श्रीमद् श्री जैन उमेदविजयजी
राजपुत्ताना } ग्रन्थमालाके सेक्रेटरी.



जैनधर्मके ग्रन्थोंका प्रान्तीय भाषामे प्रचार करनेका सरल उपाय.

वर्तमान समयमें धर्मकीवो समाजकी उन्नतीका मुख्य आधार साहित्य, लेख और उपदेश है जिसको प्रिय पाठकगणभी भलीभांती जानते है। श्रीवीतराग प्रभुके उपदेश द्वारा धर्मकी कैसी २ उन्नतीए हुई है यह हमारे बन्धुओसे छुपा हुआ नहि है परन्तु एक उपदेशक जगह २ एकही वक्त पर उपदेश नहि कर सक्ता जबके ग्रन्थ एक हो समय हरएक जगह पहुच कर हमारी जैन समाजके अज्ञानरुपी अन्धकारको एकदम हटानेको प्रवृत होता है तो वर्तमान समयमें सबसे उत्तम साधन धर्मकी उन्नतीवो समाजकी सेवा करनेका मात्र साहित्यको प्रचारकर सस्ति किमत मे जैन समाज में वितीर्ण करना है। अतएव श्री जैन ज्ञान प्रचारक मंडल सिरोहीकी संस्थाको सस्ती किमतमे भिन्न आवश्यक भाषाओ भाषान्तर कर सद्‌ ग्रन्थोको जैन बन्धुओंके करकमलो मे रखनेका मुख्य उद्देश है अतएव सर्व माहानुभावोंके उदार दाताओका ध्यान इस ज्ञान प्रचारक संस्थाकी तरफ खेंचता हुं अतएव सद्‌गृहस्थ स्वार्थ और परमार्थ दोनु साधनेके अमूल्य मोके का लाभ अवश्यले कर अपने जीवनका सार्थक करेनेको सद्‌ग्रन्थोके प्रचारमे

अपनी तरफसे कमसेकम एक ग्रन्थ अवश्यमेव प्रकाश कराने का इरादा करके और उपरोक्त संस्थाको साह्यता करेगे हरेक प्रकारकी साह्यता निचेके पत्तेसे भेजना

सेक्रटरी.
श्री जैन ज्ञान प्रचारक मंडल
सिरोही (राजपुताना).

इधरभी ध्यान दिजीए.

सब साधारणको विदित होके वर्तमान समयमे जगह २ ज्ञानका प्रचार हो राहा जबके यह मरुधर देश अभीतक बोहत पीछे है। यह एक शोककी बात है इस प्रदेशमे ज्ञान प्रचार करनेका न कोइ जरीया है. अतएव इस संस्थाने अपने अंगमे एक पुस्तक प्रचारक कार्यालय खोला है के जिससे इस प्रदेशमेभी ज्ञानका प्रचार होकर जैन समाजकी उन्नती हो. अतएव सर्व जैन बन्धुओसे विनती है के यहांपर मंडलकी प्रकाशकी हुई पुस्तकके अलावा औरभी पुस्तके मिल सकेगी. निम्न लिखित पुस्तके विक्रीयार्थ तैयार है डाकव्यय खरीददारके जिम्मे रहगा.

	रु. आ. पा.
साक्षात मोक्ष	०—२—०
नई रोशनीकी कुलदेवी	०—१—६
मारवाडीयोंकी दशा	०—०—६
जैन तत्वसार	०—३—०
हिन्दी भाषा भाषी	०—०—६
Jainism not An Atheism	०—०—६
समाधिशतकम्	०—४—०

पुस्तक मिलनेका पत्ताः—

१ श्री जैन पुस्तक प्रचारक कार्यालय
सिरोही (राजपुताना)

२ श्रीयुत वी. पी. सिंघी आबू.



॥ अथ श्री समाधिशतकम् ॥

येनाऽत्मा बुद्धतात्मैव, परत्वेनैव चापरम् ॥
अक्षयानन्तबोधाय, तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥१॥

भावार्थः-सकल कर्मसें रहित-मुक्त ऐसे श्री सिद्ध परमात्माको नमस्कार हो । जिन सिद्ध भगवानने आत्माको आत्माके रुपसे जाना है, वैसेही जिनोंने शरीर, मन, वाचा इत्यादि पुद्गल भावको पररुप जाना है। आत्मासे भिन्न अन्य सब पदार्थ अचेतन हैं, ऐसा जानकर उससे निर्वृत्तिको प्राप्त हुए। ऐसे श्री सिद्ध परमात्मा अनंत, अविनश्वर, ज्ञानमय, सदाकाल वर्तते हैं, उन सिद्ध परमात्माको नमस्कार हो। कैवल्यज्ञान कहनेसे अनंत दर्शन और अनंत सुखका ग्रहण होता है। सबब कि वे ज्ञानके साथ दर्शन सुखका अविनाभाव है अर्थात् नित्य संबंध है।

इस स्थानपर यह शंका उपस्थित होगी कि इष्टदेव पंच परमेष्टि है, ऐसा होते सिद्धको क्यों नमस्कार किया ? इस

शंका के समाधानमें समजना कि व्याख्याता और श्रोता यह उभयको सिद्ध पद प्राप्त करनेकी इच्छा है इस लिये सिद्धको नमस्कार किया है। और फिर यह भी वात है कि सिद्ध शब्दसे ही अरिहंतादिकका ग्रहण होता है। सवव कि उनों को भी नयकी अपेक्षासे देशसे सिद्धपना है। यहां पुर्वार्धसे मोक्षका उपाय कहा और उत्तरार्धसे मोक्षका स्वरुप कहा है।

जयंति यस्यावदतोऽपि भारती।
विभूतय स्तीर्थकृतोऽप्यनि हितुः॥
शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे।
जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः॥ २॥

भावार्थः—पूर्वोक्त सिद्ध स्वरुप की प्राप्ति के लिये उपदेश दाता सकल इष्ट देवताओंकी स्तुति करते हैं। जो भगवानकी भारती रूप वाणी—विभूति किसीभी आत्माको वाधा न पहुंचाते विजयी वर्त रही है। वे भारती की विभूतियां कैसी है सो कहते हैं। अवदतोऽपि यह विशेषण जो दिया है वे दिगंवर आम्नायका है। दिगंवर मतमें ऐसा माना गया है कि भगवान की दिव्य ध्वनि अनक्षर रूप है। और श्वेतांवर मतमें ऐसा है कि भगवान अक्षर रूप वाणीसे मुखद्वारा उपदेश देते हैं, उसका निर्णय सिद्धांतके ग्रंथो द्वारा कर लेना।

अत्रदतोऽपि ये विशेषण के साथ विभुतियां जानना अथवा द्वंद्व समास करते वाणी तथा छत्र, चामर इत्यादि प्रातिहार्यादिक विभूति एवं दोनोंका समावेश ग्रहण–कर–हो सक्ता है। निरीह यह भगवंतके अस्तित्वमें उनोंकी विभूति है। इच्छा यह मोहनीय कर्मसे उत्पन्न होती है। प्रभुने मोहनीय कर्मका नाश किया है। अतःएव इच्छा रहित हैं। अर्थात् उसे करनेकी इच्छा रहित तीर्थंकर हैं। संसार समुद्र तारने के लिये तीर्थ जैसा आगम (तीर्थ) उसके करनेवाले हैं।

शिवाय–परम कल्याणके स्वरूप हैं। उनोंको धात्रे अर्थात् सकल लोगका उद्धार करनेवाले–सुगताय अर्थात् सम्यग् अनंत चतुष्टयको प्राप्त भये हैं। ऐसे उनोंको–जिनाय राग द्वेष जीते हैं ऐसे उनोंको–विष्णवे मानि सर्व लोकालोकके केवलज्ञानसे व्यापक बनते हैं। ऐसे उनोंको–सकल निर्मल आत्माओंको नमस्कार हो।

इस स्थानपर शिवाय, धात्रे, सुगताय और विष्णवे यह पदसे ऐसा सुचन करनेमें आया है कि पूर्वोक्त व्युत्पत्तिद्वारा सिद्ध ऐसे जिन वे ही शिव हैं। (महादेव हैं।) वेही सुगत हैं, वेही केवलज्ञानद्वारा सर्व ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थोंको जानते हैं; अतःएव विष्णु हैं। और वेही अपने गुणोंका आ–

विर्भाव-प्रगटपना करनेसे (ब्रह्मा) विधाता जानना । शिव अर्थात् महादेव (परम निर्मल जिसका आत्मा है वे महादेव जानना) कहा है कि—

श्लोक

रागद्वेषौ महामल्लौ दुर्जितौ येन निर्जितौ ॥
महादेवं तु तं मन्ये शेषा वै नाम धारकाः ॥१॥

राग द्वेष रूप महामल्ल अति दुर्जय हैं, वे उभयको जिसने जीते हैं, वे महादेव जानना । शेष तो केवल नामधारक महादेव जानना । धात्रे—इस पदके कहनेसे ऐसा समजना चाहिये कि, जो अज्ञानी लोग ब्रह्माको बनानेवाला कहते हैं, यहांपर उस ब्रह्मका ग्रहण नहीं किया है । सुगताय—इसके कथन करनेसे जो जिन हैं वे ही सुगत हैं । तथापि अन्य क्षणिक वादी जिसको सुगत मानते हैं वे सुगत नहीं । विष्णु इस पदसे समजना कि, केवलज्ञानसे जिनेश्वरकोही विष्णु जानना; तथापि जो दुनियामें अवतार धारण करता है, वे विष्णु जोकि राग-द्वेष सहित होता है, उसका यहांपर ग्रहण करनेमें नहीं आया है । सबब कि, राग-द्वेषादिकके अस्तित्वसे वे केवल नाम मात्रका विष्णु है । वास्तवमें जिन जो हैं वे ही विष्णु हैं ।

अब आत्म स्वरूपका प्रयोजन बताते हैं ।

श्रुतेनलिङ्गेनयथात्मशक्तिसमाहितान्तः करणेन सम्यक्।
समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणाम् विविक्तमात्मानम
थाभिधास्ये ॥ २ ॥

भावार्थः–श्रुतसे, लिंगसे, शक्तिको अनुसरकर समाहित अन्तःकरणसे, भली प्रकार निरीक्षा कर, कैवल्य सुख स्पृहा वंतोंके–इच्छने वालोंके लिये विविक्त आत्म स्वरूप कहूँगा।

इष्टदेवको नमस्कार किये पश्चात् कर्ममल रहित आत्म स्वरूप कहूंगा। शक्तिको अनुसर कर अर्थात् यथाशक्ति कहूँगा। उक्त प्रकारसे आत्माकी निरीक्षा–परीक्षा करके कहता हूं। निरीक्षा किस प्रकार होती है उसका यह प्रमाण है कि, एक तो श्रुति अर्थात् सूत्र सिद्धांतसे। वैसेही लिंग अथार्त् हेतुसे। वे इस प्रकार हैः—

आत्मा शरीरादिकसे भिन्न है। क्यों कि, वे उससे अर्थात् शरीरादिकसे भिन्न लक्षणवंत हैं। जो जिससे भिन्न होता है वे उससे भिन्न होता है। अग्नि जलसे भिन्न लक्षणवाला है तो वे जल अग्निसे भिन्न लक्षणवाला कहलाता है। अतःएव आत्मा और शरीर यह उभय परस्पर भिन्न भिन्न लक्षण करके सहित हैं। ऐसा नहीं है कि यह लक्षण कुछ अप्रसिद्ध है। क्यों कि आत्मा ज्ञानसे

उपलक्षित है । और शरीरका स्वभाव जड है । एकाग्रचित्तसे ऐसा अनुभव ज्ञान प्राप्त कर उभयके लक्षण कहता हूं । सकल कर्ममल रहित होते जो निर्मल और शाश्वत सुख समान होता है, वे सुखकी स्पृहा-चाहना जिनोंको है; उस प्रकारके अधिकारी के लिये आतम स्वरूप कहता हूं ।

अथ श्री यशोविजय उपाध्यायजी कृत.

'समाधिशतक' जो कि

दोधक छंदमें है उसका विवेचन ।

समाधिशतक

प्रणमी सरसति भारती, प्रणमी जिन जगवंध ॥
केवल आतम बोधको, करसुं सरस प्रबंध ॥ १ ॥
केवल आतम बोध है, परमारथ शिव पंथ ॥
तामें जिनकुं मगनता, सोई भाव निर्ग्रंथ ॥ २ ॥
भोग ज्ञान ज्युं बालकों, बाह्य ज्ञानकी दौर ॥
तरुण भोग अनुभव जिस्यो, मगन भाव कछु और ॥ ३ ॥

विवेचनः—सरस्वति भारतीको तथा जगत्के बंधु ऐसे जिनेश्वर भगवानको नमस्कार करके श्री यशोविजयजी उपाध्याय कहते हैं कि, केवल-मात्र जिससे आतम बोध हो ऐसे आत्मज्ञान के उत्तम प्रबंधकी रचना करूंगा ।

परमार्थ-वास्तवमें केवल आत्म ज्ञान ही मोक्ष का मार्ग है। ऐसे आत्म ज्ञान में जिसको मग्नता है, वेही भाव निर्गंथ जानना। चार निक्षेपोंसे निर्ग्रंथ के चार भेद हैं।

१ नाम निर्ग्रंथ-जिसका निर्ग्रंथ ऐसा नाम है।

२ स्थापना निर्ग्रंथ-किसी वस्तुमें निर्ग्रंथनी स्थापना करें, वह।

३ द्रव्य निर्ग्रंथ-अर्थात् व्यवहारसे देखते निर्ग्रंथका वेष धारण किया है; तथापि आत्म ज्ञानका भली भांतिसे जिसको उपयोग नहीं है, वह।

४ भाव निर्ग्रंथ-पूर्वोक्त वेषादि सहित हो, और आत्म ज्ञान के उपयोगसे जो मुनि वर्तता हो, वह।

आत्म ज्ञान की चाहनासे और उसमें मग्नतासे भाव निर्ग्रंथपना साबित होता है। श्री आनंदघनजी महाराज जो कि अध्यात्म ज्ञानी थे, वे श्री वासुपूज्य स्वामी के स्तवन में कहते हैं कि-

आतमज्ञानी श्रमण कहावे, बीजातो द्रव्य लिंगीरे॥
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, आनंदघन मति संगीरे ॥
॥ वासुपूज्य ॥

जो शुद्ध आत्म स्वरूपके ज्ञाता हैं वे श्रमण कहलाते हैं। "नाणेणय मुणी होई' आत्म ज्ञानसे मुनि जानना। इस प्रकार श्री उत्तराध्यन नामक सूत्रमें कहा है। आत्मा के ज्ञान करके हीन, रजोहरण और मुख वस्त्रिका धारण करने वाला तो द्रव्य लिंगी जानना। भावलिंगीपना तो स्वरूप ज्ञानमें ही व्याप रहा है। वास्ते वस्तु जैसी है वैसी प्रकाशे (प्रगट करे,) आत्मासे बाहर जो पदार्थ हैं, उनोंमें स्वरुप ज्ञान नहीं है। तथापि आत्मिक ज्ञान वेही स्वरूप ज्ञान जानना। आत्म ज्ञानी आनंदका घन जो आत्मा वे परमात्मा उसमें जिसने अपनी मतिको सहचरी करी है, वैसा होता है।

तरुण पुरुष और तरुण स्त्री के हास्य, केली और भोगादिकका अनुभव ज्ञान छोटेसे बालको नहीं होता। उसही प्रकार जो जीव बाह्य ज्ञानके सामर्थ्यसे इधर उधर भ्रान्तिसे सुखकी बुद्धि धारण कर रहे हैं, ऐसे आत्मज्ञानसे अज्ञानी जीव हैं। उनोंको अध्यात्म ज्ञान से जो सुख होता है, उसकी मग्नताका भान किंचित् मात्र नहीं है। सबब कि, अज्ञानी अज्ञानमें—शूकर विष्टा नरकमें—आनंद मानता है; एवं वे भी मानता है। जैसे हंस मान सरोवरमें आनंद मानता है, वैसे ज्ञानी आत्म ज्ञानमें आनंद मानता है। तात्पर्यार्थ यह है कि, अज्ञानी अध्यात्म सुखका स्वाद किस प्रकारसे जान सके? आत्मज्ञानी सच्चे सुखका अनुभव करते हैं। भोगवते हैं।

अध्यात्म सुखके समान और सुख नहीं है । श्री अध्यात्म सारमें यशोविजयजी कहते हैं किः—

कान्ताधरसुधास्वादाद्यूनां यज्जायते सुखं ॥
बिन्दुःपार्श्वे तदध्यात्मशास्त्र स्वाद सुखोदधेः ॥

भावार्थः–स्त्रीके अधर रूप अमृतके स्वादसे युवान पुरुषोंको जो सुख उत्पन्न होता है, वे सुख तो अध्यात्म शास्त्रके स्वादसे उत्पन्न होते हुए सुख समुद्रके सामने वे एक बिंदु मात्र है। आत्म ज्ञानकी मग्नता कोई और ही प्रकार की है। यह मग्नताके सामने सर्व प्रकारकी क्षणिक मग्नता तुच्छ है । वास्ते ही कहा है कि आत्म ज्ञान परम सुखकारी है । ऐसा समजकर सर्व भव्य जीवोंने उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये । आत्म ज्ञान सर्व सुखोंका शिरोमणि है। आत्म ज्ञानद्वारा जो मग्नता होती हैं, वे जिसने जानी है वे ही जानता है । वे वाचाद्वारा अवर्ण्य है ।

बहिरन्त परश्चेति त्रिधाऽत्मा सर्व देहिषु ॥
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ॥

भावार्थः–सर्व शरीरोंमें बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा एवं तीन प्रकारसे आत्मा रहा है। उसमें अंतरात्मा द्वारा परमात्माकी प्राप्ति करना; और बहिरात्माका त्याग करना ।

जड वस्तुमें आत्मबुद्धि वे बहिरात्मा । शरीरमें आत्मा है, ऐसी जो बुद्धि वे अंतरात्मा और निर्मल रत्नत्रयीयुक्त वे परमात्मा, यह तीन प्रकारसें सब देहोमें आत्मा रहा हुआ है। अभव्य जीवोंमें तो मात्र बहिरात्मा काही संभव है। यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, यह किस रीतिसें कहा जाय कि सब देहोमें तीन प्रकारसे आत्मा रहा है ? इस प्रश्नके उत्तरमें समजना चाहिये कि, अभव्यमेंभी द्रव्य रूपतासे तीन प्रकारके आत्माका सद्भाव उपपन्न है अर्थात् पाया जाता है। अभव्य जीवोंमें अंतरात्मत्व और परमात्मत्व सत्तासे रहाहै; तथापि अभव्योंमें अंतरात्मत्व और परमात्मत्वका आविर्भाव (प्रगटभाव) नहीं होगा। अतःएव अभव्य जीव परमात्मपद नहीं पाते और नहीं मोक्षमें जाते। अभव्य जीवोंमें आविर्भावसे सदाकाल बहिरात्मपना है। सबब कि उसमें उस प्रकारके स्वभावकाही कारण है। अभव्य जीवोंमें पांच प्रकारके ज्ञानावरणीय कर्मकी उपपत्ति घट सकती है। केवलज्ञान, केवलदर्शन और क्षायिक चारित्र की सामग्री उनोंको प्राप्त नहीं होनेवाली है। अतःएव वे अभव्य कहलाते हैं; तथापि उनोंमे सत्ताकी अपेक्षासे तीनों प्रकार के आत्माका अभाव नहीं घट सकता। अथवा अभव्य राशिकी अपेक्षासे सर्व देही ऐसा कहनेमें आया है। ऐसा भी माना जा सक्ता है। अथवा आसन्न तथा उससे दूर और दूरतर भव्योंमें, अभव्योंमें तीन प्रकारका आत्मा कहा; तब

श्री सर्वज्ञ जो परमात्मा है, उसमें अंतरात्मा और बहिरात्माके अभावसे यह बात न घट सके ऐसी शंका का करना निरर्थक है। सबब कि, भूत प्रज्ञापन नय की अपेक्षासे उनोंमें भी वे आत्माका विरोध नहीं है। यह बात घृत घटवत् सिद्ध होती है। जो सर्वज्ञावस्थामें परमात्मा हुए, वे भी प्रथम अन्तरात्मा और अन्तरात्माके प्रथम बहिरात्मा थे। एवं घृत घटवत् सिद्धही है। अन्तरात्मत्वका बहिरात्मत्व जो वे भूत प्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे तथा अंतरात्मत्वका परमात्मत्व जो वे भावी प्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे देख लेना। यह तीन प्रकारके आत्मामें किसके द्वारा किसका उपादान करना और किसका त्याग करना, वे कहते हैं।

परमात्माकी प्राप्ति करना और बहिरात्माका त्याग करना। परमात्माको प्राप्त करनेका उपाय अन्तरात्मा है; और अन्तरात्माके उपायसे बहिरात्माका त्याग करना। अब हरेकका अलग अलग लक्षण कहते हैं।

श्री यशोविजयजी उपाध्याय कृत दोधक छंदमें समाधि शतक.

आतम ज्ञाने मगन जो सो सब पुद्‌गल खेल।
इन्द्रजाल करी लेखवे मिले न तँह मन मेल ॥१॥

ज्ञान विना व्यवहारको कहा वनावत नाच ।
रत्न कहौको काचको अन्त काचसो काच ॥५॥
राचै साचै जगपति जाचै विषय न कोई ।
नाचै माचै सुगति रस आतमज्ञानी सोई ॥ ६ ॥

विवेचनः—जो भव्य पुरुष, आतमज्ञानमें हमेशां मग्न रहता है, वे सब सोना, चांदी, आभूषण, आहारादिक पुद्गल खेलको इन्द्रजाल समान जानता है। उसका पुद्गल पदार्थोमें चित्त नहीं लगता। और पुद्गल पदार्थमें उसका मन नहीं मिलता। अर्थात् आतम ज्ञानी राग—द्वेषके परिणामसे पुद्गल पदार्थोंमें लोट पोट नहीं होता। श्री ज्ञानसारजीकी टीकामें श्री देवचंद्रजी कहते हैं किः—

गाथा.

आयास भाव नाणी भोई रमइ विवथ्थु धम्मस्स ॥
सो उत्तमो महप्पा अवरे भव सूयरा जीवा ॥ १ ॥

भावार्थः—जो आत्मा अपने आत्म स्वभाव का ज्ञानी तथा आत्म धर्मका भोगी अपने स्व स्वरूपमें रमण करता है, वे उत्तम महात्मा जानना। शेष जो पांच इन्द्रियोंके विषयमें रमण करे, उसमें मग्न रहे, पुद्गलके झूंठपनेमें मिल जाता है; वे संसारके

शूकर समान जानना। अमृत रसके भोगीको विष्टा प्रिय न लगे, एवं आत्म ज्ञानीको पौद्गलिक भोग प्रियकर–रुचिकर न लगे। सबब कि उसमें सुख नहीं है। आत्मज्ञानी अपने अनंत गुण और अनंत धर्ममें हमेशां सदा सर्वदा मग्न रहता है।

बिना ज्ञानके केवल अकेला वेष, क्रियाकाण्ड व्यवहारसे मुक्तिकी साधना करना एक नाटक समान है। कोई काचको रत्न मानकर सिरके उपर धारण करे, और रत्नकों पैर तले रगदोले; परन्तु परीक्षककी परीक्षामें तो काच वे काचही रहेगा और रत्न सो रत्न ही है।

कोई मनुष्य काचके टुकड़े को रत्नकी बुद्धि से ग्रहण कर चित्तमें हर्षित हुआ, और वे किसी कार्यके प्रसंगसे द्रव्यके लिये काचके टुकड़ेको बेचनेके लिये जोहरीके पास गया। तथापि किसीने उसकी कीमत एक फूटी कोड़ीभी देना नामंजूर किया। अतःएव वे अंतरमें बड़ा दुःखी हुआ। इस ही प्रकार जो कोई मनुष्य बाह्य धर्मके व्यवहारमें मुक्ति मानकर केवल क्रियाकाण्ड आदि उपरके व्यवहारमें लीन रहे, तथापि आत्म क्या है ? वे तो जानताही नहीं; वे चाहे बाह्य व्यवहारको मुक्तिका मार्ग करे और उसमें मग्न रहे; तोभी उसको मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती। आत्म ज्ञान रत्न समान है। और बिना ज्ञानके अकेला क्रियाकाण्ड काच समान है। वास्ते आत्म

ज्ञान वेही मुक्तिका हेतु है। ऐसा समजकर उसकर उसकी श्रद्धा करना। श्री यशोविजयजी उपाध्याय कहते हैं कि—

जहां तक आत्म द्रव्यका लक्षण भली भांति नहीं जाना, अनेकांतपने आत्माको भली प्रकार नहीं पहिचाना—वहां तक प्रयत्न करते हुए भी उत्तम गुण स्थानक प्राप्त नहीं होता। चाहें तुम अनेक प्रकारके कष्ट करो, और संयम धरो, अपनी काया को गाल डालो; तथापि विना आत्म दशाकी प्राप्तिके दुःखका नाश नहीं होता। श्री आनंदघनजी महाराज कहते हैं कि—

कोई कंत कारण काष्ट भक्षण करेरे मलशुं कंतने धाय॥
ए मेलो नवि कहिये संभवेरे मेलो ठाम न ठाय॥ रुषभ ॥१॥
कोई पति रंजन तप अति घणुं करेरे पति रंजन तन ताप॥
ए पति रंजनमें चित नवि धर्युंरे रंजन धातु मिलाप॥ रुषभ॥

इत्यादिकसे समजना चाहिये कि विना आत्मज्ञान के मुक्तिकी प्राप्ति नहीं है। श्री दशवैकालिक नामा सूत्रमें कहा है कि 'पढमं नाणं तओ दया' अर्थात् प्रथम ज्ञान और फिर दया। वात यह है कि विना जीव तथा अजीवके ज्ञान के द्रव्यदया या भावदया भी नहीं वन सकती। फिर कहा है कि—

श्लोक

आत्माऽज्ञान भवं दुःख मात्मज्ञानेन हन्यते।
अभ्यस्यंतत्तथा तेन येनात्मा चिन्मयो भवेत्॥१॥

और फिर अन्य मतोंमेंभी कहा है कि-

ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुनः॥

॥ श्री भगवद्गीता ॥

हे अर्जुन! ज्ञानरुप अग्नि सर्व कर्मोंको भस्मीभूत करती है।

फिर श्री यशोविजयजी उपाध्याय द्रव्यगुण पर्याय के रासमें कहते हैं कि-

बाह्य क्रिया छे बाहिर योग, अंतर क्रिया द्रव्य अनुयोग ।
बाह्य हीन पण ज्ञान विशाळ, भलो कह्यो मुनि उपदेश माळ ॥

फिर प्रवचन सारोद्धारमेंभी कहा है कि-

गाथा ।

जो जाणई अरिहंते दव्वगुण पज्जवंतेहिं ।
सो जाणइ अप्पाणं मोहो खलु जाहितस्स लयं ॥

भावार्थः-यह है कि, जो भव्य, गुण, और पर्यायसे अरिहंतको जानता है, वे अपने आत्माको जानता है, पहिचानता है। वास्ते विना ज्ञानके केवल मात्र व्यवहार चारित्रसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती। वास्ते आत्म ज्ञान प्राप्त करने प्रयत्न करना ।

आत्म ज्ञानीका लक्षण कहते हैं। जो सत्य ऐसे धर्मध्यान और शुक्लध्यानमें मग्न रहे, और उसमेंही लीन बना हो (अर्थात् उसमेंही मग्नता धारण करे) और पांच इन्द्रियोंके

विषयमें याचना न करे तथा केवल मोक्ष मार्गमेंही लयल
रहे वे ही आत्म ज्ञानी जानना।

॥ दोधक छंद ॥

बाहिर अंतर परमए आतम परिणति तीन ॥
देवादिक आतम परम बहिरातम बहु दीन ॥ ७

विवेचनः—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इस त
आत्माकी तीन परिणती हैं। उसमें प्रथम देह, मन, अ
वाचा इत्यादिकमें जिसका आत्मा बुद्धि है, वे बहिरात्मा जा
। बहिरात्मा प्राणी अन्य वस्तुको अपनी मानकर, राग—द्वे
योगसे आठ कर्मोंको ग्रहण कर, अनेक योनिमें अवतार
कर, अनेक प्रकारके तीव्र दुःखोंको पाता है। फिर—जैसे ब
कसाईके हाथमें आई हुई अति दीन होती है, उसही प्र
आत्माभी सिंह समान है; तथापि पर—अन्य वस्तुमें स्वयं बु
धारण करके कर्मके पींजरेमें पडा है और अति दीन—ग
बन गया है। फिर—जैसे दुनियामें किसी मनुष्यके
द्रव्य न हो, खाने पीनेका सामान न हो, वस्त्रभी न हो,
दीन—गरीब कहलाता है। इसही प्रकार बहिरात्मा भी ज्ञा
दर्शन और चारित्र रूप लक्ष्मीके अभावसे, वैसेही ज्ञान

भोजनके अभावसे, समतारूप जलकी प्राप्ति विना, और शुद्ध सम्यकित-बोधी बीज रुप वस्त्रके अभावसे और पुद्गल रुप भिक्षाको इच्छा रुप पात्रमें ग्रहण करता हुआ अति दुःखी हो गया है। जैसे—किसी मनुष्यके शरीरमें अनेक प्रकारके रोग हुए हों, उसको किंचित् मात्रभी शांति नहीं मिलती। मुखसे हाय हाय शब्दका उच्चार कर रहा है, स्वजन, संबंधी आदि पास बैठे बैठे रुदन कर रहे हैं; तथापि किसीसेभी उसका दुःख निवारण नहीं किया जाता अथवा न हिस्सा लिया जाता है। उस प्रसंगमें रोगी मनुष्य अत्यंत दुःखी होता है। उसही प्रकार अज्ञानी जीवने जो शरीर को ही आत्मा मान लिया है अथवा पंचभूत वे ही आत्मा है; इस प्रकार मान लिया है, वे मनुष्य मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग, आधि, व्याधि, उपाधिके योगसे महा दुःखी जानना। उसका दुःख किसीसे लिया जाता नहीं। अन्तमें वह बहिरात्म प्राणी मर कर नरक अथवा तो तिर्यंचकी गतिमें उत्पन्न होता है, और वहांभी महाभयानक दुःखोंका अनुभव करता है। वास्ते बहिरात्म प्राणी अति दीन-गरीब जानना। बहिरात्म प्राणी अपने अज्ञानसे अनेक प्रकारके दुःखोंका उपभोग करता है। जैसे-कोई अंध पुरुष चलते चलते खड्डेमें गिर पडता है, कांटेकी वाडमें जा गिरता है अथवा कुएमें गिरजाता है। वैसे ही पर पदार्थ जो शरीर वह ही आत्मा है ऐसा मानने वाला अंध बहिरात्मा रोग, शोक, वि-

योग, वैर और राग–द्वेष इत्यादिसे दुःखोंका पात्र बनता है। और अन्तमें नरक रुप बडे अंधकार मय कुएमें गिर कर महान् दुःखको प्राप्त होता है। बहिरात्मपना महा दुःख दायक है और उसके योगसे बार बार अनंत बार चोरासी लक्ष जीवा योनिमें आत्मा परिभ्रमण कर जन्म, जरा–वृद्धावस्था–और मरणके महा दुःख पाता है। एवं श्री सर्वज्ञ भगवान कहते हैं।

बहिरात्माशरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः ॥
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्मातिनिर्मलः ॥५॥
निर्मलः केवलः सिद्धोः विविक्तः प्रभुरव्ययः ॥
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥ ६ ॥

भावार्थः–शरीरादिकमें आत्माकी भ्रान्ति वाला बहिरात्मा, चित्त और रागादिकमें आत्म भ्रान्ति होतीथी वे जिसने दूर करी है, वे अन्तरात्मा और अति निर्मल वे परमात्मा जानना।

जिसको शरीर, मन, वाणी इत्यादिमें आत्माकी भ्रान्ति है, वे बहिरात्मा जानना। चित्तमेंसे संकल्प, विकल्प और राग–द्वेषादिक दोष, और आत्मा वे शुद्ध चैतन्य द्रव्य उसमें से जिसकी भ्रान्ति गई है वे अन्तरात्मा। अर्थात् चित्तको चित्तके स्वरुपसे जाना है और रागादिकको रागादिकके स्वरुपसे जाना है। वह अन्तरात्मा जानना। अथवा धर्मास्तिकायादिक षट द्रव्योंको सत्य समझ कर आत्म द्रव्यमें आत्म बुद्धि धारण

की है और शेष पांच अजीव द्रव्योंमें अजीव बुद्धि धारण की है; वह अन्तरात्मा जानना। जो अति शुद्ध-निर्मल है अशेष कर्म मल जिसके क्षीण भये हैं वे परमात्मा जानना।

निर्मल अर्थात् कर्म मल रहित हैं। केवल शरीरादिक संबंध रहित हैं। शुद्ध कहते द्रव्य कर्म और भाव कर्मसे रहित परम विशुद्ध हैं। विविक्त अर्थात् शरीर और कर्मादिसे अस्पष्ट, और प्रभु माने इन्द्रादिकके स्वामी हैं। अव्यय-शरीरसे नाश न होने वाले। परमेष्ठी-इन्द्रादिकके वंदनीकके स्थानमें विराजनेवाले। ईश्वर-परम ऐश्वर्यको जो धारण करते हैं वह। जिन-परमात्मा अर्थात् संसारी जीवोंसे जिनोंका आत्मा श्रेष्ठ है। जिन माने राग-द्वेष इत्यादिकको जीतने वाले आदि नाम धारक परमात्मा जानना।

चित्तदोष आतम भरम अंतर आतम खेल ॥
अति निर्मल परमातमा नाहि कर्मको मेल ॥८॥

चित्त और रागादिकोंसे गई है जिसकी आत्म बुद्धि-भ्रान्ति, वे अन्तरात्मा जानना। शरीरसे भिन्न आत्मा असंख्य प्रदेशी, अरूपी, अनामी, और अनंत धर्मा जानकर उसमें रमणता कर। आत्मा वे तू ही है। यह जो शरीर दिखाइ देता है वे तू नहीं है और वे तेरा नहीं है। तू इससे भिन्न चेतना लक्षण

वाला है। ऐसी जिसकी बुद्धि हुइ है वे भेद ज्ञानी जानना। जैसे—हंस दूध और पानी इकठे परस्पर मिल गये होते हैं, उसको अपनी चंचूसे अलग कर देता है। वैसे दूध और पानी केसे परस्पर मिले हुए पुद्गल और आत्माको भेद ज्ञानी अलग कर देता है। और अपने आत्मामें आनंदको मानता हुआ उसमें रमण करता है। परमात्मा तो अति निर्मल है। उनमें कर्मके मैलका संभवही नहीं है। और तेरहवे गुण स्थानक पर रहे हैं। जिनोंने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय यह चार घातिक कर्मोंका नाश किया है, वे भी परमात्मा कहलाते हैं। वैसीही रीतिसे जो आठ कर्मोंका क्षय कर सिद्धि स्थानमें पहुंचे हैं, वे भी परमात्मा कहलाते हैं। समभिरुढ नयकी अपेक्षासे तेराहवे गुण स्थानकवर्ती परमात्मा कहलाता है और एवंभूत नयकी अपेक्षासे जो सिद्धके धामको प्राप्त भया है, वे परमात्मा कहलाता है।

श्री आनंदघनजी महाराजभी श्री सुमतिनाथके स्तवनमें कहते हैं कि:—

ज्ञानानंदे हो पुरण पावनो वरजित सकल उपाधि।
सुज्ञानी अतिन्द्रियगुणगणमणि आगरू इम परमातम साध सुज्ञानी॥ सुमति॥ ४॥

बहिरातम तज अंतर आतमा रूपथई थिर भाव सुज्ञानी॥
परमातमनुं हो आतम भाववुं, आतम अर्पण दाव
सुज्ञानी ॥ सुमति ॥ ५ ॥

इत्यादि परमात्माके स्वरुपकी अंतःकरणमें भावना करना ॥

बहिरात्मेन्द्रियद्वारै रात्मज्ञानपराङ्मुखः ॥
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥७॥

भावार्थः-इन्द्रिय द्वारसे बाह्य ऐसे पदार्थके ग्रहण प्रति तिरस्कार प्राप्त होनेसे, जो बहिरात्मा आत्मज्ञान पराङ्मुख होकर ऐसा ही जानता है कि, यह देह ही आत्मा है और शरीर वे में हूं । ऐसी उसकी बुद्धि होती है । अतःएव वे शरीरको ही आत्मा मानता है ।

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान मन्यते नरं ॥
तिर्यंञ्चं तिर्यङ्गस्थं सुराङ्गस्थंसुरं तथा ॥ ८ ॥

भावार्थः-नर-मनुष्य उसके शरीरमें स्थित आत्मा अपनेको मनुष्य मानता है, एवं बहिरात्माकी मान्यता है । और उस ही रीतिसे पशुकी देहमें हो तो आत्माको पशु मानता है; और देवताके शरीरमें हो तो देव मानता है । एवं अज्ञानी बहिरात्मा जिस शरीरमें हो वैसाही खुदको मानता है ।

नरदेहादिक देखकर आतम ज्ञाने हीन ॥
इंद्रिय बल बहिरातमा अहंकार मन लीन ॥

विवेचनः—मनुष्यका शरीर देखकर बहिरात्मा आपको मनुष्य मानता है, वैसेही तिर्यंच हो तो तिर्यंच, नारकी हो तो नारकी और देवताका शरीर प्राप्त हुआ हो तो आप खुदको देव मानता है। एवं आतम ज्ञानसे करके हीन बहिरात्मा पांच इन्द्रियोंमें तथा बलमें आत्मभाव धारण कर अहंकारसे मनमें लीन होकर कर्म ग्रहण करता है।

अलख निरंजन अकल गति व्यापी रह्यो शरीर ॥
लखै सुज्ञाने आतमा खीर लीन ज्युं नीर ॥१०॥

विवेचनः—अलख अर्थात् खयालमें नहीं आनेवाला। निरंजन अर्थात् कर्मरूप अजंनसे रहित और अकल गति माने जिसकी गति न जानी जाय वह। इस प्रकारका आत्मा शरीरमें असंख्य प्रदेशसे व्यापक होकर हुआ रहा हुआ है, वे ज्ञानसे पहिचाना जाता है। दूधमें पानी मिलकर रहा हुआ है, वैसे शरीरमें आत्मा व्यापक बनकर रहा है। इस प्रकारका कथन करनेसे पांच भूतोंके संयोगसे आत्मा उत्पन्न होता है। ऐसा माननेवाले चार्वाक वादीका खंडन हुआ समजना।

नारक नारकाङ्गस्थं नस्वयं तत्त्वतस्तथाः
अनन्तानन्तधी शक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः॥१०॥

भावार्थः–नरक योग्य देहमें रहा हो तो आत्मा मैं नारकी हूं, ऐसे मानता है; परन्तु अपना यथार्थ स्वरूप नहीं जानता। आत्मा विना कर्मकी उपाधि नरादिक रुपको स्वतः लेता नहीं। तत्वसे कर्मकी उपाधि वाला आत्मा नहीं। मात्र व्यवहारमें वैसा आत्मा कहलाता है। जीवको मनुष्यादिक पर्याय प्राप्त भये हुए है। वह कर्मोपाधि कृत है। क्योंकि, कर्मकी निवृत्ति होते पर्यायभी निवृत्ति पाते है। अर्थात् वे वे पर्या जीवको नहीं होते। वास्ते ही कहनेमें आता है कि, आत्मातो अनंतानंत ज्ञान शक्तिवाला है और अनंतवीर्य शक्तिवाला है। ऐसा होते किस प्रकार जान सके? वास्ते ही कहते हैं कि, आत्मा स्वसंवेद्य है और वह अचल स्थितिवाला है। उसके रुपका विनाश संभवित नहीं।

स्वदेह सदृश दृष्ट्वा परदेह मचेतनम् ॥
परमात्मा धिष्टितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥११॥

विवेचनः–बहिरात्मा स्वदेहके समान अन्यका शरीरभी देखकर कर्म वशसे स्वीकार करे हुए अचेतन देहकोभी अन्य आत्मा समान स्वीकारता हैं।

ऐसा करनेके पश्चात् क्या कहता है सो बताते हैं।

स्वपराध्यवसायेन. देहेष्वविदितात्मनाम्;
वर्तते विभ्रमःपुंसां, पुत्रभार्यादि गोचरः ॥११॥

अर्थः—जिनोंने नहीं जाना है आत्मस्वरुप, ऐसे पुरुषोंको स्व और परकी परिणतिसे, अमुक पुत्र, अमुक स्त्री, अमुक मेरा आदि प्रगटपने दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थः—विभ्रम माने विपर्यास (मिथ्याज्ञान) होता है। किसको होता है ? तो कि, जो आत्मस्वरुप नहीं जानते हैं उनोंको। किससे होता है ? कि, उक्त ऐसे स्वपर अध्यवसायसे। कहां होता है ? कि देहमें। किस प्रकारका विभ्रम होता है ? कि, पुत्रभार्यादिगोचर, अर्थात् आत्माके उपकारक नहीं ऐसे, पुत्र, दारा, धन, धान्यादिक अपने हैं। ऐसा भ्रम होता है। उनोंकी संपत्तिमें सुख मानता है।

अरिपुत्रादिक कल्पना, देहादिक अभिमान;
निज पर तनु संबंध मति, ताको होत निदान ॥११॥

विवेचनः—देहके विषे आत्म बुद्धिके अभिमानसे शत्रु, पुत्र, मित्र आदि कल्पना होती है। यह अन्यका और अपना ऐसा अध्यवसाय पुद्गल भावमें उत्पन्न करानेवाले देहमें आत्म बुद्धिका अभिमान है।

देहादिक आतम भ्रमी, कल्पै निजपर भाव;
आतम ज्ञानी जग लहे, केवल शुद्ध स्वभाव ॥११॥

विवेचनः-देह, वाणी, प्राण और मनमें आत्म बुद्धिका भ्रम है जिसको, ऐसा पुरुष यह मेरा है और यह अन्यका। एवं पुद्गल भावमें कल्पना करता है। अपितु जिसको आत्म ज्ञान हुवा है वैसा भव्यात्मा केवल आत्मिक शुद्ध स्वभावको दुनियामें अपना मानता है। पुद्गलमें अहंवृत्तिका उदय ज्ञानीको नहीं होता। ज्ञानी अपने आत्मामें स्वबुद्धिका ग्रहण करता है।

अविद्या संज्ञित स्तस्मात्, संस्कारो जायते दृढः।
येन लोकाङ्गमेव स्वं, पुनरप्यभिमन्यते ॥ १२ ॥

अर्थः-बहिरात्मामें अविद्याका संस्कार दृढ होता है और उससे लोग जन्म जन्मांतरमेंभी शरीरकोही आत्मा मानते हैं।

विवेचनः-जो भ्रमसे बहिरात्मामें आत्मभ्रान्ति रूप वासना दृढ होती है, और वह अविद्यासे अज्ञानी जन्मांतरमें भी अपने शरीरको ही आत्म रूप स्वीकारता है। संस्कारका ऐसा सामर्थ्य है कि, परभवमेंभी उस ही प्रकारकी बुद्धि उत्पन्न होती है। जैसे आज दिनके करे हुए कार्योंका संस्कार दूसरे दिन, रात्रिका अंतर होते भी, वैसे ही रूपमें वे दिखाई देते हैं।

इस प्रकार इस भवके संस्कार जैसी बुद्धिमें दृढ भये हुए हैं, उसी प्रकारके परभवमें जन्म होते प्रगट होते हैं । सम्यक् मतिसे सम्यक् संस्कार और दुष्ट मतिसे दुष्ट संस्कार परभवमें प्राप्त होते हैं । वास्ते भव्य पुरुषोंने आत्मामेंही आत्म बुद्धि धारण करनी, और पुद्गलमें अजीव बुद्धि धारण करके स्व स्वभावमें रमण करना ।

देहे स्वबुद्धिरात्मनं युनक्त्येतेन निश्चयात् ।
स्वात्मन्येनात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनम् ॥२३॥

अर्थः—देहमें आत्म बुद्धि होनेसे देह साथही योग रहना है और आत्म बुद्धिसे देहका वियोग होता है ।

भावार्थः—अनादिकालसे बहिरात्माको देहमें आत्म बुद्धिकी भ्रान्ति होती है; और वह आत्माको परमानंद नहीं पाने देता, देहमेंही बांध रखता है । अर्थात् दीर्घ संसार तापमें डालता है, आत्माको जड समान रखता है । जिसको आत्मामेंही आत्मबुद्धि है ऐसा अंतरात्मा स्वतः पुद्गलके संयोगसे मुक्त होता है, और परमात्मरूप बनता है ।

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्र भार्यादि कल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिमन्यते हा हतंजगत ॥२४॥

अर्थः—देहमें आत्मबुद्धि होते पुत्र भार्यादिककी कल्पनाएं

हुइ, अपनी संपति उससे मानी गई 'हा इति खेदे' ऐसी भ्रांतिसे जगत् मारा गया ।

विवेचनः—अज्ञानी जीवको देहमें आत्मबुद्धि होते यह मेरा पुत्र, यह मेरी प्राणप्रिया स्त्री, यह मेरी माता, यह मेरे पिता, यह मेरा घर, यह मेरा राज्य, यह मेरा खेत, यह मेरा बाग, ऐसी अहंवृत्तिकी कल्पनाओंका प्रादुर्भाव होता है ।

अनातम रुप वस्तु आत्माको किंचित् भी उपकारक नहीं होती । ऐसा है तोभी अज्ञानके योगसे जो स्त्री, धन, पुत्र, लक्ष्मीको अपनी मानते हैं; वह केवल ठगाते हैं! हा !! ऐसा माननेवाला जगत् विनाश पाया है । अर्थात् विना स्वस्वरूप परिज्ञानके जगत् मात्र वहिरात्म भाववाला हो गया है ।

स्वपर विकल्पै वासना होत अविद्या रूप ।
ताते वहुरि विकल्पमय भरमजाल अंधकूप ॥२३॥
पुत्रदिककी कल्पना देहातम भ्रममूल ।
ताकु जड सम्पति कहे हाहा मोह प्रितकूल ॥२४॥

भावार्थः—स्व और परके विकल्पसे वासना रूप अविद्या रूप वासना प्रगट होती है, और उससे वहुत विकल्प होता है, और वहु विकल्पमय भ्रम जालरूप अंधकूपमें जो मनुष्य गिरते हैं, वह दुःख करके उसमेंसे वहार निकल सक्ते हैं ।

अहो! परवस्तुके संकल्प विकल्पसे यह दिखाई देती दुनिया है। जीव समय २ में सात या आठ कर्म ग्रहण करके बांधा जाता है। परवस्तु योगसे होते विकल्प संकल्प वही भ्रमणा जाल, और वही अंध कूप जगत्में महादुःख दायक है।

जिसको जड और चैतन्य वस्तुका अलग २ लक्षण करके यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ, वह पुत्रादि प्रत्यक्ष स्वतःसे अलग दिखाई देते हुए भावोंकोभी अपनी संपत्तिरुप मानता है। अहो वैसा प्राणी जड जानना। अहा! कैसी मोहकी प्रबलता है! ऐसे प्राणी वहिरात्म भावमें अपना जीवन निरर्थक गालते हैं—गंवाते हैं। अरे! समजना चाहिये कि, मरण समय कोई वस्तु अपने साथ नहीं आती। तोभी मूर्ख जीव अज्ञान पनेसे और वहिरात्म भाव योगसे मानो यह चीजें वही मैं हूं। ऐसे दृढ संस्कार भावकी कल्पना करके उसीमें रच मच रहता है। ममताके योगसे परवस्तुओंको सम्पत्ति रुप मानता, अज्ञानी जीव रागद्वेषके योगसे कर्मग्रहण करते भवमें भमता है। उसमें ममताही कारणीभूत है। अध्यात्मसारमें कहा है कि;—

व्याप्नोति महती भूमि वटबीजाद्यथावटः ॥
तथैक ममता बीजात् प्रपंचस्यापि कल्पना ॥१॥

भवार्थः—जैसे एक वडके बीजसे वड वहुत भूमिको व्याप्त

करता है, वैसे एक ममता बीजसे बहुत मपंचकी कल्पनाएं उठती है। पुनः कहा है किः—

स्वयं येषांच पोषाय खिद्येत ममता वशः ॥
इहा मुत्रच तेन स्युस्त्राणाय शरणायवा ॥ १ ॥

ममता वश भया हुआ प्राणी जो पुत्र, स्त्री आदिके पोषण वास्ते खेद पाते हैं। वह अखिर यहां तथा परभवमें दुःखके-समय रक्षणके वास्ते अथवा शरणके वास्ते नहीं होते, वास्ते ममता भाव दूर करके जो यथार्थ वस्तु स्वरूप देखता है, वेही देखनेवाला है। कहा है किः-

भिन्नाः प्रत्येकमात्मानो विभिन्नःपुद्गलाअपि ॥
शुन्य संसर्ग इत्येव य पश्यति स पश्यति ॥ १ ॥

भावार्थः-हरेक आत्मा व्यक्तिसे भिन्न भिन्न है। जैसे वर्ण, गंध, रस, स्पर्शमय पुद्गलभी अलग २ हैं, वैसे वे उभयका संसर्गभी शुन्य है। इस प्रकार जो देखना है वेही देखनेवाला जानना। ऐसे जो नहीं देखता वह बहिरात्मा जानना और वेसा अज्ञानी पशु समान जानना।

मुलं संसार दुःखस्य देहएवात्मधीस्ततः ।
त्यक्तेनेनां प्रविशेदन्तबहिरव्यावृतेन्द्रिय ॥ १५ ॥

अर्थः–देहमें आत्म बुद्धि रूप भ्रान्ति ही संसार दुःखका मूल है। जिसने बाह्य विषयोंमें इन्द्रियां नहीं प्रवर्ताई है, ऐसा पुरुष बहिरात्म बुद्धिका त्याग कर अन्तरात्म बुद्धि धारण करता है।

संसारमें दुःखका मूल कारण देहमें आत्म बुद्धिकी भ्रान्ति धारण करना वेही है। वास्ते तत्वका स्वरूप भली भांति समज कर आत्मामेंही आत्म बुद्धि धारण करना। जड वस्तु कदापि कालमें आत्मरुप होनेवाली नहीं है। वास्ते वह अपनी नहीं ये निश्चय करना।

देहके पांच प्रकार हैं। १ औदारिक शरीर. २ वैक्रियशरीर ३ आहारक शरीर ४ तैजस शरीर ५ कार्मण शरीर। जो सात धातुसे बना हुआ शरीर है उसको औदारिक शरीर कहते हैं। जो लब्धि से प्रगट होता है उसको वैक्रिय शरीर कहते हैं। मनुष्यादिको वैक्रिय लब्धिके योगसे वैक्रिय शरीरकी प्राप्ति होती है। देवता और नारकीके जीवोंको दो भवमें प्रत्यायीक शरीर उत्पन्न है। देवता सिवाय भव प्रत्ययीक शरीरके दूसरा शरीर बनाते हैं, उसको उत्तर वैक्रिय शरीर कहते हैं। अहारको पचावे उसको तैजस शरीर कहते हैं। कर्मके विकारोंको कार्मण कहते हैं। आठ कर्मसे बने हुए शरीरसे आत्मा हमेशां भिन्न है। पांच प्रकारके शरीर पुद्गल स्कधोंसे बने

हुए हैं, और पुनः (पीछे) वह शरीरोंकी स्थिति पूर्ण होते विखर जाते हैं, वास्ते पुद्गल रुप देह कीसीभी आत्माके नहीं। पुद्गल जड है और आत्मा ज्ञान गुणवाला है । उभय द्रव्योंके लक्षण तथा धर्म अलग २ है। वास्ते परवस्तुको पर रुपसे निर्धार कर भव्य प्राणी समकित रत्नकी प्राप्ति करते हैं और अन्तरात्मा होकर, परमात्मरुप साध्यकी साधना करते हैं।

मत्तश्च्युतेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहाम् ॥
तान्प्रपद्याहमितिमां पुरा वेदुत तत्वतः ॥ १६ ॥

अर्थः-अन्तरात्मा भया हुआ जीव अलभ्य लाभ पा कर अपनी बहिरात्म वृत्तिका स्मरण करके खेद करता है।

अहो ! मत्त होकर इन्द्रिय द्वारोंसे बाह्य विषयमें पडा हुआ मैं पूर्व अपनेको मैंही आत्मा हूं ऐसा जानता न था।

मत्त होके आतम स्वरुप भ्रष्ट भया हुआ और इन्द्रिय द्वारा विषयोंमें पतित ऐसा मैं आपही आत्मा हूं, शरीरादि वह आत्मा नहीं ऐसा प्रथम जाना नहीं। प्रथम अनंतकाल गया तोभी मैं आत्मा हूं ऐसा नहीं जाना। अहो ! कितनी बडी भारी भूल हुई। अन्तरात्म होने पूर्वकी बहिरात्म चेष्टासे आत्मा पश्चाताप करता है। और आपका स्वरुप पहचाननेसे आनंदको प्राप्त होता है।

अब आत्मज्ञानका उपाय बताते है ।

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं, त्यजेदन्तर शेषतः ॥
एवं योगः समासेन, प्रदीपः परमात्मनः ॥२७॥

भावार्थः—इस प्रकार बाह्यवाणी त्याग अंतरकोभी अवशेषपणे त्यागे, संक्षेपसे परमात्माको दीपक समान ये योग है ।

इस मुताबिक पुत्र, स्त्री, धन, धान्य, कुटुंब, भोगादि बाह्य वस्तुका वाचक शब्द मात्र उसको मात्र सर्वथा त्यागना, और उसके बाद अंतरवाचाकोभी त्यागनी, अर्थात् जिससे अहंता सिद्ध हो केवल वे वाचा त्यागना । माने मैं सुखी, मैं दुःखी, यह मेरा, यह तेरा, इत्यादि अंतर्वाचाभी त्यागना । वाचाके चार भेद हैं । १ परवाचा २ पश्यन्तिवाचा ३ मध्यमावाचा ४ वैखरी वाचा । उसमें जो मुखसे बोली जाती है वह वैखरी वाचा कहलाती है और उसकोही बाह्य वाचा कहते हैं । जीव और शिवका सूक्ष्म चिंतन रूप जो संकल्प उठते हैं वह तथा पश्यन्ति और मध्यमाको अंतर्वाचा कहनेमें आती है । पूर्वोक्त बाह्य और अंतर्वाचाका त्याग करनेसे बाह्य आंतर त्याग रूप योग कहा । वे करनेसे आत्माकी स्थिरता रूप ऐसा समाधियोग होता है कि, संक्षेपमें आत्मस्वरुप प्रकाशक ये योग जल्दीसे बने । यहां ग्रंथ कर्ताने उत्तम समाधियोग बताया है । चित्तवृत्ति निरोध लक्षण समाधिका रहस्य प्रादुर्भाव पाता है । अंतरवाचाको

त्याग करना यह राजयोगका लक्षण है। उसकाभी अन्तरभाव यहां इस श्लोकके भावार्थमें होता है।

यन्मया दृश्यते रूपं तन्नजानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपम् ततःकेन ब्रवीम्यहम्॥२८॥

अर्थः—जो रूप दिखाई देता है वह तो मुझे सर्वथा जानता ही नहीं, और जो जानता है वह दृश्य नहीं है, तब मैं किसके साथ बोलूं ? इन्द्रियोंसे परिछिद्यमान शरीरादिक जो दृश्य हैं अर्थात् उसको कुछ कहूं सो समझनेवाला नहीं, और बात करनेका व्यवहार तो जानता है। शरीरादिको जड़ है उससे वह कुछ जानता नहीं, और जानने वाला तो आत्मा है, वह तो दृश्यमान नहीं अर्थात् इन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं। ऐसा है तब मैं किसके साथ बोलूं ? इस मुताबिक वाग विकल्प छोड़नेकी युक्ति कहता है।

यत्पैः प्रतिपद्योऽहं, यत्परान्प्रति पादयेन्॥
उन्मत्त चेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥२९॥

अर्थः—मैं जिन परोंसे प्रतिपाद्य होता हूं, और मैं दूसरोंको प्रतिपादन करता हूं ? यह सर्व मेरा उन्मत्त चेष्टित है। सबब कि, मैं तो निर्विकल्प हूं।

विवेचनः—पर माने उपाध्याय गुरुआदि वह मुझे प्रति-पादन करें, और मैं शिष्यादिकको प्रतिपादन करने वैठता हुं। वह मेरी सब उन्मत्त चेष्टा जाननी । मोहवशात् उन्मत्त समान विकल्प जाल रूप चेष्टा जानना । सबब कि, निर्विकल्प स्वरूप मेरे आत्माका है । वचन विकल्पोंसे मैं अग्राह्य हूं। तो मेरे वास्ते वचन विकल्पभी अब आत्म स्वरूप प्राप्त होते कामका नहीं ।

या भ्रम मति अब छांडदौ, देखो अंतर दृष्टि ॥
मोह दृष्टि जो छोडिये, प्रगटत निजगुण सृष्टि १५
रूपादिकको देखवो, कहन कहावन कुट ॥
इन्द्रिय जोगादिक बले, ए सब लूटालूट ॥ १६ ॥
परपद आतम द्रव्यकुं, कहन सुनन कछु नाहि ॥
चिदानंद घनघेलहीं, निजपदतो निजमाहि ।१७।

विवेचनः— हे चेतन ! अब भ्रान्तिवाली बुद्धिका त्याग करके अंतर दृष्टिसे तेरा धन (द्रव्य) देख ! हे चेतन ! अं-तरमें तेरी ऋद्धिका खजाना है । वे मोह युक्त दृष्टिसे बंधा हुआ है और उससे वह दिखाई देता नहीं । मोह युक्त दृष्टि-से देखते परवस्तुमेंही तुझे हमेशां अहंवृत्ति प्रगट होती है, मोह दृष्टिसे सर्व सृष्टि अंतर दृष्टिसे शून्य भयी है । जैसे कोई

पुरुषने धतुरेका पान किया हो उसको जैसे सर्व वस्तु सुवर्ण समान पीली लगती है, वैसेही मोह दृष्टिसे आत्माकी बाह्य दशा वर्त रही है। और उससे वह सत् असत्पनेकी बुद्धि धारण की है। परन्तु ये सर्व भ्रान्ति है। जैसे धतुरेका घेन (नशा उतरे बाद जैसी वस्तु है वैसी दिखाई देती है) वैसे मोहदृष्टिके त्यागसे अंतर दृष्टि प्रगटते, आत्माका यथार्थ स्वरूप दिखाई देता है। मोह दृष्टि छोडकर जब निज स्वरूपमें रमणता करे, तब आत्माके अनंत गुणरूप सृष्टिका आविर्भाव होता है।

रूपादिकका देखना, उसका कहना, कहलाना वह सर्व कुट-सर्व मिथ्या है। इन्द्रिय तथा मन, वचन तथा कायाके बलसे करके अन्यमें प्रवर्त्तन होता है। इन्द्रिय, मन, वचन और कायाके योगबलसे आत्मा परभवमें घुसते, आत्माकी ऋद्धिकी लूटम लूट हो रही है; अर्थात् जब आत्मा स्वभावको छोडकर आत्मा परस्वरूपमें घुसता है तब राग, द्वेष, निंदा, अज्ञानरूपी चोर आत्माकी ऋद्धि लूटते हैं; और आत्माको दीन कर डालते हैं। परन्तु जब आत्मा स्व स्वभावरूप घरमें होता है, तब राग द्वेषादिक चोरोंका कुछ नहीं चलता। मगर आत्मा स्वस्वभावरूप घर छोडकर परभाव रूप घरमें घुसने चला कि, तुरत चोर आकर आत्माकी

ज्ञानादिक ऋद्धि लूंटने लगते हैं। पंचेन्द्रियकी विस्तृतता और मन, वचन, कायाकी पर प्रवृत्ति रूप द्वारसे राग द्वेषादिक चोर क्षण क्षण मौका देखकर आत्मामें प्रवेश करके आत्म ऋद्धिकी लूंटम लूंट करते हैं। तोभी आत्माको मोहरूप मदिरा पान करनेसे कुछभी मालुम नहीं पडती। अहो! कितनी अज्ञानता! आत्मा समजा नहीं कि, आजतक मैंने परिभ्रमण किया, वहभी मोहके योगसे किया है। अब सत्गुरुकी संगति प्राप्त होते मोहका स्वरूप जाननेमें आया, और निश्चित हुआ कि, आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव रूप घरमें न रहनेसे घरकी ऋद्धि रागादिक चोर लूंटते हैं। परन्तु पुद्गल दशाका त्याग कर, अलख, अरूपी, असंख्य प्रदेशरूप मेरे घरमें रहकर, अन्य-में किंचितमात्रभी उपयोग न दूंतो, रागादिक चोर मेरी ऋद्धि लूंटते बंध होजाय। यही उपाय सत्य है। इसके सिवाय उपाय नहीं। श्री चोवीसमें तीर्थंकर श्री वीर प्रभुजी धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानसे अपने स्वरूपमें रमते थे। बारह वर्षसे-अधिक समय तक इस मुताबिक स्व स्वभावरूप घरमें रहके अंदर घुस गये हुए रागद्वेषरूप चोरोंको समूलसे निकाल दीये। और अपना घर निर्मल किया तब सुखी हुए। परन्तु जहांतक जीव मिथ्यात्व दशामें है, वहांतक अपनी ऋद्धिकी लूंटम लूंट चलती रहतीहै। उसकी मोहदशासे समज नहीं पडती। जैसे कोई मनुष्य भर निंद्रामें सोया है और उसके घरमें चोर

डाका डाल जाय, तोभी उसको मालुम न हो, वैसे जहांतक अज्ञान और मोह दशासे जीव प्रमादरूप नींदमें सोया है, वहांतक अपनी ऋद्धि लूटी जो रही है उसकी उसको समज नहीं पडती। वास्ते चेतन अब तुं जाग! तेरा स्वरूप अलख है; तुं खुद परमात्मा है, तेरेमें सर्व है, उत्कृष्ट निर्मल आत्मद्रव्यको कहनेका धन ऐसा आत्मा वहतो अपने स्वरूपसेंही है। अ-रूपी, वचनसे अगोचर, निर्विकल्प आत्मा स्वयं प्रकाशक है तो आत्मार्थे वचन विकल्प भी आत्म स्वरूप प्राप्त होते कामका नहीं।

यद् ग्राह्यं न गृण्हाति, गृहीतं नापि मुंचति ॥
जानाति सर्वथा सर्वं, तत्स्वसंवेद्य मस्म्यहम् ॥१०॥

अर्थः—जो अग्राह्यको ग्रहण करता नहीं, और ग्रहण किये हुयेको छोडता नहीं, सर्वको सर्वथा जानता है, वह स्वसंवेद्य मैं हूं। जो शुद्धात्म स्वरूप है वह अग्राह्य ऐसे जो कर्मोदय निमित्त क्रोध, मान, माया और लोभादि स्वरूप, उसको ग्रहण करता नहीं, अर्थात् अग्राह्य ऐसे क्रोधादि स्वरूप का शुद्धात्मा स्वस्वरूपतासे ग्रहण करता नहीं। और अनंत ज्ञान दर्शनको चारित्र गुणमय शुद्धात्म स्वरूप उसका कदापि त्याग नहीं करता। अर्थात् अपने ज्ञानादि गुणमें सदा-

काल रमण करता है। अन्य वस्तुमें किंचित् मात्रभी दृष्टि देता नहीं; ऐसा और जीव अजीवादि तत्व स्वरूपको भली प्रकार जानता है, अर्थात् द्रव्य, गुण और पर्यायसे षड् द्रव्यको जो जानता है उस प्रकारका मैं स्वसंवेद्य हूं।

ग्रहण अयोग्य ग्रहे नहि ग्रहो न छंडे जेह ॥
जाणे सर्व स्वभावने स्वपर प्रकाशी तेह ॥ १८ ॥

इसका अर्थ २० में श्लोकमें आजाता है। तोभी किंचित् विवेचन करनेमें आता है। जिसको आत्मज्ञान हुआ है, ऐसा मुनीश्वर ग्रहण करनेमें अयोग्य ऐसी पुद्गल वस्तुको न ग्रहे। सबब कि, इस आत्माको पुद्गल वस्तु ग्रहण करने लायक नहीं है। यह पुद्गल वस्तु ग्रहण कर संसारमें परिभ्रमण करता है। कीसी समय देव होताहै, तो कीसी समय मनुष्य होताहै। और वेही जीव कीसी समय पुनः तिर्यंच होता है और पुनः नारकीपने उत्पन्न होता है। जड ऐसा पुद्गल द्रव्य तीनों कालमें आत्माको हितकारक नहीं है। आहारभी पुद्गलका, वैसे पान (पीना) भी पुद्गलका, वैसे पांच प्रकारके शरीर और छ लेश्या आदि सब पुद्गलही जानना। ज्ञानावरणी आदि आठ कर्मकी वर्गणाएं भी पुद्गल वस्तु जानना चाहिये। ऐसे पुद्गल परमाणुओंके स्कंधोंको ग्रहण करके आत्मा अनंत अनंतीवार दुःखका पात्र बना। अनंतासिद्ध जीवोंने वमनकी हुई

पुद्गलरुपी झूंठको सुखकी पिपासासे ग्रहण करके जडवत् बन गया है। जोकि, वर्ण, गंध, रस और स्पर्शमय ऐसा पुद्गल द्रव्य सदाकाल आत्मासे अलग है। तोभी आत्मा उसमें सुखकी बुद्धि धारण कर ठगाता है। जैसे मृग झांझवेके जलमें सत्य जलकी बुद्धि धारण कर पीने दौडते हैं, परन्तु जब पास जाते हैं तब निराश होते हैं। वैसे अज्ञानी जीव पुद्गल वस्तुको अपनी मानकर उसका ग्रहण करते हैं। परन्तु जब मरण समयमें वह (पुद्गल वस्तु) अपनी होती नहीं। वैसे उससे सुख भी मिलता नहीं। तब निराश होता है। वास्ते समजनेका कि, पुद्गल वस्तु ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। अपना शुद्ध आत्मस्वरुप ग्रहण करने योग्य है। जो अग्राह्य ग्रहण करता नहीं और अपने शुद्ध आत्मस्वरुपको ही ग्रहण करता है, सात नय और सप्तभंगी निक्षेपेसे, तथा गुण पर्याय सहित षड् द्रव्यको यथार्थपने जानता है, वह स्वपर प्रकाशी निर्मल आत्मज्ञानी हो, तब समकिती जानना। समकीती जीव रागद्वेषसे परवस्तुमें निमग्न होता नहीं, वह अन्तरसे अलग वर्तता है। जैसे जलमें उत्पन्न भया हुआ कमल जलसे निर्लेप रहता है। वैसे भव्य जीव समकितकी प्राप्ति होते संसारमें परवस्तुके संबंधसे अलग वर्तता है। ज्ञान, ध्यानसे अपने आत्माका पालन करता है। सब सांसारिक पदार्थोंसे मायाका त्याग करता है। पुद्गलमें होती

इष्ट और अनिष्ट बुद्धिका त्याग करता है। ऐसा स्वसंवेद्य-ज्ञानी आत्मा जानना।

उत्पन्न पुरुष भ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्वि चेष्टितम् ॥
तद्वन् चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्म विभ्रमात् ॥२१॥

अर्थः-जिसको लकडेके थंभेमें पुरुषकी भ्रान्ति उत्पन्न हुई है, वे जैसी चेष्टा करे उसीही प्रकार देहादिकमें आत्म विभ्रम होनेसे प्रथम मेरी चेष्टा थी।

विवेचनः-आत्माका स्वरुप जानने पहले जीवका कैसा चेष्टित था सो कहते हैं। एक थंभा देखते यह पुरुष है ऐसी जिसको भ्रान्ति उत्पन्न भयी है, वह पुरुष थंभे प्रति कैसी चेष्टा करता है; उसीही प्रकार मेरीभी चेष्टाथी। किस प्रत्ये थी? तो कहते हैं कि, देहादिक प्रति। देहादिकमें आत्माका भ्रम होनेसे मेरी ऐसी चेष्टा थी। अब आत्मज्ञान हुएं बाद ऐसी चेष्टा कैसे करूं? जैसे छोटा बालक लकडेकी पुतलीको अपनी स्त्री मानता है और उस प्रत्ये अनेक प्रकारके हाव भाव करता है। उसको अपनी मानता है। और उसपर प्रेम लाता है। पुतली गिर जाती है तो रोता है। और मेरी वधू इत्यादि शब्दोंसे बुलाता है। वैसेही जिसको आत्मज्ञान नहीं हुआ वह शरीरमें आत्म बुधि धारण कर, शरीरकी वृद्धिसे अप-

नेको वृद्धिवाला मानता है, शरीर स्थुल हो तब अपनेको स्थुल मानता है, शरीर शुष्क हो तब अपनेको शुष्क मानता है, शरीर रोगी होता है तब रोगी मानता है, शरीरकी पुष्टी वास्ते अनेक प्रकारके पाप करता है। मांस, मदिरादिका सेवन करनेमें अटकता नहीं, और अनेक प्रकारके पाप कर, मरकर अखीरमें नरक निगोदमें अवतार धारण करता है। ऐसे अनादि कालसे जीवने शरीरकोही आत्मा मानकर, उसके वास्ते अनेक प्रकारके पाप कर, स्वरुपसे भ्रष्ट हो भवमें भटकता है। आत्मामें आत्मबुद्धि होते मालुम हुआ कि मैं आज तक परवस्तु को अपना मान, बाल, जवान, वृद्ध शरीर वेही मैं ऐसा माना; परन्तु अब वे पुद्गल वस्तु मेरी नहीं; तो उसका संग कैसे करूं? उसमें कैसे राचुं और माचुं? अतः एव आत्मज्ञान होनेसे पर वस्तुका त्याग भाव होता है, और बालकको जैसे पुतलीमें स्त्री बुद्धि थी, मगर वह बुधि बडा होते मिटजाती है। और उस प्रकारके हाव भाव करता नहीं; वैसे अज्ञानी अवस्थामें जीवने ये शरीरमें आत्मबुद्धि धारण करके अज्ञान चेष्टा की; परन्तु आत्मज्ञान हुये बाद वैसे प्रकारकी चेष्टा नहीं करता।

यथासौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे ॥
तथाचेष्टास्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥२२॥

अर्थः—स्थाणुमेंसे पुरुषगृह निवृत्त होते, स्थाणु प्रति जैसी चेष्टा होती है, उसही प्रकारकी देहमेसें आत्मबुद्धि भ्रम निवृत्त होते देहादि प्राति मेरी चेष्टा हुइ है।

स्थाणु (थंभे) को पुरुष मानकर उस प्राति जो चेष्टा थी। वह जब स्थाणु पुरुष नहीं है, ऐसी भ्रान्ति मिट गइ, तब जैसे स्थाणुको स्थाणु रूपसे जानना हुआ, अर्थात् पुरुष ग्रहसे उत्पन्न भई हुई उपकार तथा अपकाररूप प्रवृत्ति अटक गई। उस प्रकार देहमें होता आत्मबुद्धि भ्रम नष्ट—नाश होनेसे मैं भी वैसीही चेष्टावाला भया हूं। हुआ हूं। आत्मामें पुरुषलिंग आदिकी संख्या नहीं है उसका स्पष्ट कथन करते हैं।

येनात्मानानुभूयेऽहात्मनैवात्मनाऽत्मनि ॥
सोऽहं नत्तन्न सा नासौ नैकोन द्वौ नवा बहुः ॥२३॥

अर्थः—जिस आत्माके प्रभावसे मैं आत्म स्वरूपका अनुभव करता हूं, वेही आत्मा मैं हूं। मैं नपुंसक नहीं, स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, दो नहीं और अधिकभी नहीं।

विवेचन—जिस चैतन्य स्वरुपसें मैं आत्मामें स्वसंवेदन स्वभावसे अनुभवाता हूं, वोहि मैं आत्मा हूं। मैं नपुंसक स्त्री या पुरुषरूप नहीं। वैसेही एक दो या जियादेभी नहीं। नपुंसकादि धर्म कर्म जनित है और मैं आत्मा तो

स्वभावसे शुद्ध कर्ममल रहित निर्मल हूं। वैसे नपुंसकादि रु-पसे मैं कैसा मानुं? अर्थात् अन्यमें स्वबुद्धि कैसे धारण करूं? चाय नपुंसकादि स्वरूपसे मैं हमेशां अलग हूं, तो पुरुष स्त्री आदिकका अभ्यास धारण कर मैं पुरुष, मैं स्त्री ऐसी अहंवृत्ति आजतक धारण की वह मिथ्या-गलत जानली। ऐसा अब निश्चय हुआ।

यदभावे सुषुप्तोहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः॥
अतीन्द्रियम निर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥२४॥

अर्थः-जिसके अभावसे मैं सोयाथा, और जिसके भावसे पुनः जागृत भयाहूं, ऐसा अतीन्द्रिय, अनिर्देश्य, स्वसंवेद्य मैं हूं।

जिस शुद्ध संवेदनके अभावसे मैं सोयाथा, यथार्थ शुद्ध आ-त्मज्ञान उसके अभाव रूप गाढ निद्रामें लिपटा हुआथा, और जिसके भावसे अर्थात् जो शुद्ध आत्मका अनुभव होने निमित्त करके जागृत भयाहूं। मैं वाद इन्द्रियोंसे अगोचरपनेसे कथन करनेके अगम्य, स्वरूप दर्शज्ञान ग्राह्य आत्मा हूं।

रूपेके भ्रम सीपमें, ज्युं जड करे प्रयास।
देहातम भ्रम तें भयो, त्युं तुज कृत प्रयास॥२१॥

मिटे रजत भ्रम सीपमें, जन प्रवृत्ति जिम नाहि ।
नरमें आतम भ्रम मिटे, त्युं देहादिक माहि ॥२०॥
फिर अबोधे कंठगत, चामी करके न्याय ।
ज्ञान प्रकाशे सुगति तुज, सहज सिद्ध निरुपाय॥२१॥
या विन तुं सूतो सदा, योगे भोगे जेणि ।
रुप अतिन्द्रिय तु छते, कही शके कहु केणि॥२२॥
देखे भाखे औकरे, ज्ञानी सबहि अचंभ ।
व्यवहारे व्यवहारसू, निश्चयमें थिर थंभ ॥ २३ ॥

विवेचनः--जैसे कोई अज्ञानीको 'शुक्तौइदं रजतम्' छींपमें चांदीका भ्रम होनेसे उसके लिये कोशीश करता है। परन्तु वह (खयाल-भ्रम) गलत है। वैसे तुझे देहमें आतमबुद्धि भ्रमसे कूट अभ्यास हुआ है। पर वस्तुको अपनी मानना और उसके योगसे राग द्वेषमें लिपटकर पुनः पुनः कर्मकी वर्गणाओंको गृहण करना, और पुनः छोड देना, पुनः गृहण करना। धन, धान्य, देशादिक परवस्तुके लिये अनेक प्रकारके उद्योग करना, और क्लेश सहन करना, ये सब कूट अभ्यास वहिरातम बुद्धिसे हे आत्मा! तुझे हुआ है। ऐसा तू जान।

सीपमें चांदीकी बुद्धिका भ्रम मिट जाते, जैसे मनुष्योंकी प्रवृत्ति सीपमें ग्रहण करनेमें थी, वे नहीं होती। वैसे देहादिकमें जो आत्मभ्रम उसका नाश होनेसे, देहादिकमें प्रथम राग द्वेषके योगसे जैसी प्रवृत्ति होती थी वैसी प्रवृत्ति फिर नहीं होती।

जैसे कोई अज्ञानी अपने कंठमें—गलेमें हार है, अपि भ्रम होनेसे मेरा हार २ करता फिरता है। मगर भ्रान्ति दूर हो जानेसे अपने कंठमेंही हार है ऐसा सत्य भास होता है। वैसे अज्ञानी जीवभी देहादि परवस्तुमें, आत्मभ्रान्ति धारण कर, वहां आत्म तत्वको शोधता है। मगर वह भ्रान्ति—शक दूर हो जानेसे, ज्ञान योगसे आप स्वतः आत्म स्वरूप है, मालुम होता है। अपने स्वज्ञानसेही मुक्ति होती हैं, सहज स्वभावसे आत्माका पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सिद्धपना प्रगट होता है। इसमें बाह्य उपायकी अगत्य नहीं रहती। सहज समाधि भावसे आत्मा आपका सिद्ध स्वरूप प्रकाशता है।

विना आत्म ज्ञानकी प्राप्ति न बाह्य योगमें और बाह्य वस्तुके भागमें सोया था। जब आत्मज्ञान प्रगट हुआ तब समझा गया कि, तूतो अतिन्द्रिय है। अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय (रसनेंद्रिय, घ्राणेन्द्रिय, श्रोत्रेंद्रिय और चक्षुरिंद्रिय,—चमडी, जिव्हा, नाक, कान और आंख) इन पांच इन्द्रियोंसे मालुम नहीं होता। अर्थात् त्वचा—चमडीसे छुआ जाता नहीं। सब

बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्नच प्रियः ॥२५॥

अर्थः—ज्ञान स्वरूप आत्माको मुझे तत्त्वसे जानने वालेका रागादि यहांही क्षीण होता है। पीछे मुझे कोई शत्रु या मित्र नहीं।

यहांही अर्थात् इस जन्ममेंही। ज्ञानस्वरूप सर्व परभाव रहित ऐसे निर्मल आत्माको जाननेवाले पुरुषके रागद्वेषादि दोषोंका नाश होता है। किससे क्षीण होता है? तो उत्तरमें समजना चाहिये कि, आत्माको तत्वसे जाननेसे, यथावत् आत्म स्वरूप जाननेसे, रागादि क्षीण नष्ट हुए, उससे मुझे शत्रु या मित्र मित्रका अभाव है।

मामपश्यन्नयं लोको नमे शत्रुर्नच प्रियः ॥
मां प्रपश्यन्नयं लोको नमे शत्रुर्नच प्रियः ॥२६॥

अर्थः—मुझे नहीं देखता ऐसा यह लोक मेरा शत्रु नहीं कि, मित्र नहीं। और मुझे देखता यह लोक मेरा शत्रु कि, मित्र नहीं। आत्मस्वरूप प्रतिपन्न होते वा अप्रतिपन्न होते यह लोक मेरे उपर शत्रु मित्र भावको अंगीकार न करे, उसमें आत्मस्वरूप अप्रतिपन्न होते, मुझे नहीं देखता ऐसा लोक मेरा शत्रु या मित्र नहीं। अप्रतिपन्न होते वस्तुस्वरूपमें, रागादिककी

उत्पत्ति मानते अति प्रसंग आवे, वैसे आत्मस्वरूप प्रतिपन्न किया है तोभी लोक मेरा शत्रु या मित्र नहीं ।

सबब कि, आत्मस्वरूपकी प्रतिति होते हुए रागादिकका विशेष करके क्षय होनेसे, नाश होनेसे किस प्रकार मुझे शत्रु मित्रभाव हो । अब अन्तरात्मा बहिरात्माका त्याग किये पश्चात् परमात्म प्राप्तिका क्या उपाय ! सो बताते हैं ।

त्यक्त्वैवं बहिरात्मान मन्तरात्म व्यवस्थितः ॥
भावयेत्परमात्मानं सर्व संकल्प वर्जितम् ॥ २७॥

अर्थः—इस मुताबिक बहिरात्माका त्यागकर, अन्तरात्मामें व्यवस्थित भये हुएने, सर्व संकल्प वर्जित परमात्माकी पूर्वोक्त प्रकारसे भावना करना । अन्तरात्म पद प्राप्त कर, बहिरात्माका त्याग कर अन्तरात्मा परमात्माकी भावना करे । परमात्मा किस प्रकार है ? तो कहते हैं—कि, सर्व संकल्प वर्जित है । अथवा सर्व संकल्प रहित है । परमात्माके भावसे जो जिसका ध्यान करे वह वैसे हो जाता है । श्री ज्ञानविमलसूरि कहते हैं कि, " इलि भमरी संगथीं भमरी पद पावे तिम विमल प्रभु आतमा परमानंद पद पावे " इत्यादि अर्थ समजना ।

सोऽहं मित्यात्त संस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः ॥
तत्रैवदृढ संस्काराल्लभते ह्यात्मनः स्थितिम् ॥२८॥

अर्थः—उसमें आत्म भावनासे वेही हुं, और वेही दृढ सं-स्कारसे पुनः आत्माकी स्थिति आत्मा पाता है।

जिसमें अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत क्षायिक चारित्र, क्षायिक समकित, क्षायिक भावसे दानादि पांच लब्धि और आठ गुणसे पुर्ण ऐसा परमात्मा वेही मैं हुं। ऐसा दृढ रीतीसें ग्रहण किया है, और वह दृढ भावनासे पुनः परमात्मामें जिसको एकाग्रता हुई है, वेही आत्माका स्वरूप पाता है।

जग जाणे उन्मत्त औ, ओ जाणे जग अंध।
ज्ञानीकुं जगमें रह्यो, युं नहीं कोइ संबंध ॥२४॥
यापरह्याही ज्ञानको, व्यवहारे जुं कहाइ॥
निर्विकल्प तुज रूपमें, द्विधा भावन सहाई ॥२५॥
यूं बहिरातम छांडिके, अंतर आतम होइ॥
परमातम मति भाविए, जहां विकल्प न कोइ ॥२६॥
सोमैं या दृढ वासना, परमातम पद हेत॥
इलिका भमरी ज्ञानगत, जिनमति जिनपद हेत॥२७॥

विवेचनः—जगत् ज्ञानीको उन्मत्त जानता है, तब ज्ञानी जगको अंध जानता है। क्योंकि, जगत्के सब जीव मायामें फसे हैं, और पर वस्तुमें माया ममता धारण करते हैं और ज्ञान चक्षु रहित हैं। वास्ते अंध है। ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

ज्ञानीको जगत्में रहते किसीके साथ संबंध नहीं है । जैसे धावमाता अन्यके पुत्रको खिलाती है, पिलाती है, रमाती है, मगर उससे वह अपना नहीं, ऐसा वह जानती है। वैसे ज्ञानीभी उदायिक भावके योगसे परके संबंधमें आता है, मगर उससे अंतरसे अलग वर्तता है। निश्चयसे उसको पर पुद्गलके साथ संबंध नहीं है । सबब कि, वह अंतरसे पर पुद्गलके संबंध रहित वर्तता है, और राग-द्वेषसे पर वस्तुमें लिपटता नहीं।

जो प्रतिछाया ज्ञानके व्यवहारमें जैसे कहलाता है, वैसे निर्विकल्प हे आत्मा ! निर्विकल्प ऐसे तेरे शुद्ध स्वरुपमें दो प्रकारका भाव भला नहीं अर्थात् अर्थात् तेरेमें द्विधा भावकी संभावना नहीं है ।

ऐसे वहिरात्म भाव त्यागके, अंतरात्मा हो, जहां संकल्प विकल्प नहीं, ऐसे परमात्माकी शुद्ध मतिसे भावना करनी । वही ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय आतमा मैं हूं ! एसी दृढ वासना वास्ते परमात्म पदके प्राप्तिके है । इलिका और भमरीके द्रष्टांतसे । यहां राग द्वेष रहित ऐसी जिनमति जिनपदकी प्राप्तिके वास्ते है ।

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्तो नान्यद्भया स्पदम् ॥
यतोभी तस्ततो नान्यदभयस्थान मात्मन ॥२९॥

अर्थः—मूढात्माको जिस जड वस्तुपर विश्वास है उससे अधिक भय स्थान अन्य कोई नहीं है, और जिससे वह भय

पाया है उससे अन्य निर्भय स्थान आत्माके लिये कोई नहीं।

मूढात्मा माने बहिरात्मा—जहां शरीर, पुत्र, कलत्र, धन, धान्य, घरबार, हाट, वखार, दुकान वगैरहमें विश्वास करता है। ये पदार्थ मेरे हैं, मैं पदार्थोंसे भिन्न नहीं—अलग नहीं। ऐसी अभेद बुद्धि और अशुभ परिणाम अज्ञानता धारण करता है। उससे दूसरा कोई भयस्थान नहीं है अर्थात् वेही वस्तु उसको भयका कारण है, और जो परमात्म स्वरूपमें रमणता, उसका भास, उसमें तन्मयता, उसकी एकाग्रता, उसमें निमग्नता, उससे वे भय पाया हैं; तोभी उसके सिवाय दूसरा कोई अभयस्थान नहीं हैं, अर्थात् अज्ञानी जीव आत्म स्वरूपमें प्रवृत्ति करते भय पाता है; तथापि वास्तविक निश्चयसे देखते, आत्माका ध्यान, आत्माका ज्ञान, आत्मामें रमणता और आत्मामें स्थिरता करनेसे, अनंत सुखकी प्राप्ति होती है और वेही अभय स्थान है।

भारे भय पद सोही है, जंह जडकुं विसास ॥
जिनसूं ओ डरतो फिरे, सोइ अभयपद तास॥२८॥

विवेचनः—इस दोहेके अर्थका उपरके श्लोकमें समावेश हो जाता है। अतः एत्र विशेष विस्तार किया नहीं।

सर्वेद्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्वं परमात्मनः॥२९॥

अर्थः—सर्व इन्द्रियोंका संयमन कर, स्थिरभूत अन्तरात्मासे क्षण मात्र देखते जो दिखाई देता है, वही परमात्माका तत्व है। अपने स्वतःके विषयमें प्रवर्तती हुई सब इन्द्रियोंका निरोधकर, अर्थात् मूलमें कथनानुसार इन्द्रिय और मनका संयमन करके वेही स्थिरात्मासे देखते जो चिदानंद स्वरूपका प्रतिभास होता है, वहही परमात्माका स्वरूप है।

इन्द्रियवृत्ति निरोध करि, जो खिनुगलित विभाव।
देखै अंतर आतमा, सो परमातम भाव ॥३०॥

इसके अर्थका समावेश उपरके श्लोकके अर्थमें होता है। उससे विशेष विस्तार नहीं किया। अर्थ सुगम है।

यःपरमात्मा स एवाहं, योऽहं स परम स्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यःकश्चिदितिः स्थितिः॥३१॥

अर्थः—जो परमात्मा वेही मैं और जो मैं वेही परमात्मा। (अर्थात् मैंही जो परम माने प्रसिद्ध और उत्कृष्ट आत्मा है; वेही मैं हुं। और जेस्व संवेदन प्रसिद्ध, मैं यह निश्चयका स्थान अंतरात्मा हुं. वेही परमात्मा एक ऐसा अभेद है, अर्थात् मैंही मेरे स्वतःका उपास्य हुं। अन्य कोईकी आराधनाकी आवश्यकता मुझे नहीं है; ऐसी मेरी हालत है।

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं, मामयैव मयि स्थितम् ।
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि, परमानंद निर्वृतिम् ॥३२॥

अर्थः-मुझे आपको मेरे आपही विषयोंसे खेंच लाकर, मेरेमें रहा हुआ ज्ञानात्मा जो परमानंद निवृत्त है, उसको मैं प्रपन्नहूं।

विवेचनः-मैं जो द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक नयसे, शुद्ध वे मेरे आत्माकोही प्राप्त हुं। वह स्वरूप मैं त्रिकालमें अखंडपने सत्तासे हुं। मेरे आत्माको क्षयोपशम चेतना योगसे विषयोंमेंसे हटाकर अपने अबाधित सहज स्वरूपमें प्रपन्न हुं। मैं मेरे ज्ञान गुणमय आत्मामें परम आनंदसे परिपूर्ण हुं।

योनवेत्ति परं देहादेवमात्मान मव्ययम् ॥
लभते नस निर्वाणं तत्वापि परमं तपः॥ ३२ ॥

अर्थः-जो आत्माको इस प्रकार अव्यय तथा देहसे पर-अन्य जानता नहीं, वह जीव परम तप तपे तोभी मोक्ष न पावे। ऐसे जीवोंके लिये मुक्ति सर्जित नहीं है।

विवेचनः-जो जीव शरीर और आत्माको उक्त प्रकार करके अलग नहीं जानता, अव्यय माने त्रिकालमें नाश-नष्ट न हो, ऐसा जानता नहीं, वह बहिरात्मा मिथ्यात्वी जीव मोक्ष-मुक्ति नहीं प्राप्त करसक्ता। अर्थात् वैसा अनेक प्रका-

रके तप तपे तोभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर। सकता । विना आत्मज्ञानकी दशा उत्पन्न भये मोक्षकी प्राप्ति होती नहीं । श्री यशोविजयजी उपाध्याय कहते हैं किः—

कष्ट करो संजमधरो गाळो निज देह ॥
ज्ञान दशाविण जीवने, नहीं दुःखनो छेह ॥
आतम ॥ १ ॥

जहांतक आत्मज्ञान हुआ नहीं वहांतक रागादि दोषोंका क्षय होता नहीं । कहा है किः—

पद

सबजन धरम धरम मुख बोले, अंतर मुदो न खोले. सब.
कोई गंगा जमना भूल्या, कोई भभूते भूल्या;
कोई जनोईमां झंखाणा, फकीरी लेई कई फूल्या ।सब १
मुंड मुंडावे जग गाडरिया, केशने तोडे रंडी;
माला मणका बैरी पेहेरे, नित्य चाले पगडंडी । सब २
धर्मन वरणे धर्मन मरणे, धरम न करवत काशी;
धर्मनजाति धर्मनभाति, धर्मन जंगलवासी । सब ३
गद्धा खाखमांही आळोटे, तेपण साचा खाखी;
निर्वस्त्रां पशु पंखी फरे छे, ममता दिलमां राखी । सब ४

जबतक अंतर्तत्वन खुले, तब तक भवमें भूले;
बुद्धिसागर आतम धर्मे, भ्रान्ति भ्रमणाभूले। सब ५

पुनः श्री यशोविजयजी उपाध्याय कहते है कि:—

॥ ज्ञान दशाके महिमाके विषयमें पद ॥

ज्ञानी ज्ञान मगन रेहेरे, रागादिक मल खोय;
चित्त उदास करणीकेरेरे, कर्मबंध नहीं होय। चेतन १
लीन भयो व्यवहारमेंरे, युक्ति न उपजे कोय;
दीन भयो प्रभु पद जपेरे, मुक्ति किहांसु होय। चे. २
प्रभु पूजो समरो पदो, करो विविध व्यवहार;
मोक्ष सरुपी आतमा, ज्ञान गम्य निरधार। चे. ३
ज्ञान कला घट घट वसे, जोग जुगतके पार;
निज निज कला उद्योत करे, मुगति होय संसार। चे.४
बहु विध क्रिया क्लेशशुं, शिवपद लहे न कोय;
ज्ञान कला परगासखुं, सहज मोक्षपद होय। चे. ५

इत्यादिकसे ज्ञानका महिमा श्रेष्ठमें श्रेष्ठ जानना। मोक्ष स्वरूपी आत्मा ज्ञानसे गम्य है, और ज्ञानसेही उसका निश्चय होता है। केवल अनेक प्रकारके तप, संयम रूप क्रियाके क्ले-

असेंही जीव मुक्ति नहीं पासकता; परंतु जब अंतरमें ज्ञानक-लाका प्रकाश होता है, तब सहजमेंही मुक्तिपद मिलता है।

देहादिक तें भिन्नमें, मोसे न्यारे तेहू ॥
परमातम पथ दीपिका, शुद्ध भावना एहु ॥३०॥

विवेचनः—में देह, वाणी—वाचा और मन आदिसे तीनों कालमें अलग हूं, और वह मेरेसे अलग है। ऐसी शुद्ध भा-वना धारना वह परमातम मार्गकी दीपिका (बतानेवाली) है। जैसे किसी अंधकारमय स्थानमेंसे हो कर अन्य स्थानमें जाना होतो दीपिका—बत्तीकी आवश्यकता रहती है। शिवाय उसके जा नहीं सक्ते। वैसे यहांभी विना पूर्वोक्त प्रकारकी भावनाके मोक्ष मार्गमें गमन नहीं कर सकते। वास्ते शुद्ध भावना, अन्तरात्माकी परमातम स्थिति प्रगटानेमें बत्तीके समा-न प्रकाश कर देती है। अथवा परमातमपदके रास्तेमें बत्ती समान है, ऐसा अर्थ ग्रहण करना।

क्रिया कष्टभी नहु लहे, भेदज्ञान सुखवंत ॥
या विन बहुविधि तप करे, तोभी नहीं भवअंत ॥३१॥

शरीरसे आत्मा अलग है ऐसा जानकर विना निश्चय किये, अनेक प्रकारकी क्रियाके कष्ठ सहन करे, और अनेक

प्रकारके तप करे, तोभी भवांत नहीं होता । श्रीयशोविजयजी उपाध्याय कहते हैं कि,–

परपरिणति पोतानी माने, क्रिया गर्वे घहेलो ।
बंधमोक्ष कारण न पिछाणे ते मुरखमें पहेलो ॥३१॥

जो जीव पर–अन्य परिणातिको अपनी स्वतःकी मानताहै, अर्थात् रागद्वेषमें गभराया है, उसमें हैरान हुआ है, वे आत्माका और पुद्गलका भेद जानता नहीं । और सांसारिक पदार्थ अपने कर जानता मानता है; और क्रियाके गुमानसे माने अहंकारसे वे पागल बना है । परन्तु बंध किससे होता है, और मोक्ष किससे होता है, वह जानताही नहीं । वे सर्व मूर्खोंमें अव्वल मूर्ख जानना । अर्थात् बहिरात्मा, बाह्यक्रिया और तपसे मुक्तिपद प्राप्त करवाता नहीं, वास्ते आत्मज्ञान करना, और पदार्थका यथार्थ बोध गुरुगमसे लेना येही हितशिक्षा है ।

अभिनिवेश पुद्गलविषय, ज्ञानीकूं कह होत ॥
गुणकोभी मद मिट गयो, प्रगट सहज उद्योत ॥३२॥
धर्मक्षमादिकमी मिटे, प्रगटत धर्म संन्यास ॥
तौ कल्पित भव भावमें, क्युं नहि होत उदास ॥३३॥

विवेचनः–आत्मज्ञानीको पुद्गल संबंधी अभिनिवेश किस प्रकार हो ? जो आत्मज्ञानीको मैं ज्ञानी और विद्वान हूं, मैं

ध्यानी हुं, ऐसा प्रत्यय भ्रान्तिभी–मिट गइ है, तो वैसे आत्म ज्ञानीको परमें (अन्यमें)। अभिनिवेशभाव कदापि न हो। अपने गुणका अहंकार करे तो वह परिग्रही जानना। श्री यशोविजयजी उपाध्यायने परिग्रहकी सज्झाय (स्वाध्याय) में कहा है किः—

ज्ञान ध्यान हय गय वरे तप जप श्रुत परतंत सलुणे;
छोडे सम प्रभुता लहे मुनिपण परिग्रहवंत सलुणे।
परिग्रह ममता परिहरो।

भावार्थः—ज्ञान, ध्यान, तप, जप, श्रुतका अहंकार मुनि मनमें रखे तो वहभी परिग्रही है, और जब उसका त्याग करे तब समप्रभुता की प्राप्ति होती है। ज्ञानीको पर वस्तुमें अहं-वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। आत्मज्ञान रूप सूर्यके सामने अहंवृत्ति रूप अंधकार टीक सक्ता नहीं! जिसके हृदयमें आत्मिक स्व-रूपका उद्योत प्रगट हुआ है, ऐसे मुनिवर क्षण क्षणमें निर्वाण सुखका अनुभव लेते हैं।

क्षायिक भावसे आत्मधर्म प्रगट होते, क्षमादिक धर्मभी अपने आप सम–शम जाते हैं। तो कल्पित संसार भावमें ज्ञान कैसे न उदास रह सके? अलबत्ता रह सके। ये निश्चय बात है। औदयिक भावसे जो जो क्रिया उदयमें आती है, ज्ञानी

वह वाह्यवृत्तिसे करते हैं, मगर अंतरसे तो वे जल और कमल जैसे हैं। ऐसे हरेक प्रसंगमेंभी अंतरकी उपयोग धारा अलग वर्तती है.। उसका (ज्ञानीका) शुद्ध आत्मा भावदयामय बन रहा है, उससे वह वाह्यभावमें रागद्वेषसे परिणमता नहीं। वाह्यपदार्थ जो जडरूप हैं, उसमें उदासीनता धारण करता है। ऐसी सहज स्वभावसे आत्मज्ञानीकी प्रवृत्ति होती है।

आत्मदेहान्तरज्ञान, जनिता ल्हाद निर्वृतः ॥
तपसा दुष्कृतं घोरं, भुंजनोऽपिनं खिद्यते ॥३४॥

आत्मा और देहके अन्तरका ज्ञान होनेसे, उत्पन्न होते आनंदसे तृप्त ऐसा भव्य, तपसे घोर दुष्कृत्य भोगवते हुए खेद पाता नहीं।

विवेचन—आत्मा और देहका अंतर माने भेदका ज्ञान होनेसें, जो अक्षय आनंद होता है, उससे तृप्त माने अत्यंत सुखी ऐसे मुनिराज बारह प्रकारके तपसे घोर दुष्कृत भोगवते हुएभी खेदको प्राप्त नहीं होते।

रागद्वेपादि कल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम् ॥
स पश्यत्यात्मनस्तत्वं तत्तत्वं नेतरोजनः ॥३५॥

अर्थः—राग द्वेषादि कल्लोलसे, जिसका मनोजल अलोल

है, वह आत्मतत्व देखता है। उससे अन्य आत्मतत्त्व नहीं देख सक्ता।

विवेचनः—जिसके आत्मरुप सरोवरमें मनरुप जल, वह राग—द्वेष रुप कल्लोलसे माने जिसका मन कलुषितता, चंचलताको धारण करता नहीं। चंचलताका नाश होनेसे मन स्थिर होता है। राग—द्वेषादिकका नाश होनेसे मन शुद्ध होता है। इस प्रकार जिसका मन शुद्ध और स्थिर है, वेही अनुभवसे आत्मतत्वको देखता है। अन्य कोई वे देख सक्ता नहीं।

अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं, विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः॥
धारयेत्तद विक्षिप्तं, विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः॥ ३६॥

अर्थः—अविक्षिप्त मन आत्मतत्वका रुप है, और विक्षिप्तमन आत्म स्वरुप नहीं। वास्ते मनको अविक्षिप्तही रखना विक्षिप्तका आश्रय करना नहीं।

विवेचनः—राग, द्वेष, इच्छा, ईर्षा, निंदा, क्लेश और कुसंप (फुटाफुट) से जिसका मन परिणमन नहीं हुआ, अर्थात् देह और आत्माके भेदसे विवकवाला और आत्मामें रमण करनेवाला वैसेही निश्चयताको पाया हुआ मन, वास्तविक आत्मस्वरूपही है। उससे विपरीत मन वह परवस्तुमें आत्म भ्रान्तिवाला जानना। अविक्षिप्त मनका आश्रय करना,

और मनको हमेशां अविक्षिप्तही रखना। मनका विक्षेप किससे होता है? और अविक्षेप किससे होता है? सो बताते हैं।

अविद्याभ्यास संस्कारै, रवशं क्षिप्यते मनः ॥
तदेवज्ञान संस्कारैः स्वतस्तत्वेऽवतिष्ठते ॥३७॥

अर्थः—अविद्याभ्यास संस्कारसे, मन अवशहो विक्षेप पाता है, और ज्ञानके संस्कारसे वेही मन पीछा अपनेः आत्मामें विराम पाता है। अर्थात्

विवेचनः—शरीर, मन, वाणी, गृह, पुत्र, धन आदि जगत्के मायिक पदार्थोंका पवित्र, स्थिर तथा आत्मरूप मांनना वह अविद्या उसका अभ्यास, माने पुनःपुनः वे मायिक पदार्थोंमें प्रवृत्ति, और उससे पैदा भये हुएको संस्कार कहते हैं। वैसे संस्कारोंसे विषयेन्द्रियाधीन भयाहुआ मन विक्षेपताको प्राप्त होता है। वेका वेही मन आत्मज्ञानसे संस्कारोंको पाये हुए आत्म स्वरूपमें स्थिर होता है।

अपमानादयस्तस्य, विक्षेपोयस्य चेतसः ॥
नापमानादयस्तस्य, न क्षेपो यस्य चेतसः ॥३८॥

अर्थः—जिसको चित्तका विक्षेप है, उसको ही अपमा—

नादि हैं, जिसके चित्तको विक्षेप नहीं, उसको अपमानादि कुछ नहीं।

विवेचनः–अपमान माने अपने महत्त्वका खंडन आज्ञा तिरस्कार, निंदा, कलंक, इर्ष्या, मात्सर्य, राग, द्वेष आदि दोषोंसे जिसके चित्तका विक्षेप होता है, उसको वह दोष आडे आते हैं, विक्षेपवाले चित्तमें पूर्वोक्त दोषोंका प्रादुर्भाव होता है, और जिसके चित्तमें विक्षेप नहीं होता उसको उसमेंका कुछ नहीं। दोष युक्त चित्तकोही संसार है। कहा है किः–

चित्तमेवादि संसारो, रागादि क्लेशवासितम् ॥
तदेव तै विनिर्मुक्तं, भवांत इव कथ्यते ॥ १ ॥

अर्थः–सुगम है। मनमेंसे दोषोंको दुर करके मन निर्मल करना। स्वस्वरूपमें लय पाया हुआ तत्त्व परमात्मतत्त्वका प्रकाश करता है। वास्ते भव्यजीवोंने मनको सर्व विषयोंमेंसे खेंचकर एक आत्मतत्वमें स्थिर करना चाहिये।

यदा मोहात् प्रजायेते, रागद्वेषो तपस्विनः ॥
तदैव भावयेत् स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥३९॥

अर्थः–जब तपस्विको मोहसे रागद्वेष उत्पन्न हो, तब स्थिर ऐसे आत्माका ध्यान करना। उससे क्षणमात्रमें रागद्वेष उपशांत होते हैं।

विवेचनः-मोहनीय कर्मके उदयसे जब तपस्विको आत्मा में रागद्वेष उत्पन्न हो, तब बाह्यविषयोंमें व्यावृत्त किये हुए आत्माके स्वरूपकी भावना करनी; जिससे क्षण मात्रमेंही राग द्वेषादिककी निवृत्ति हो जाती है।

यत्र काये मुनेःप्रेम, ततः प्रचाव्य देहिनम् ॥
बुद्धा तदुत्तमे काये, योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥

अर्थः-जो कायामें मुनिको प्रेम हो, वहां देहीको बुद्धिसे छोडनी, उसके बजाय उत्तम कायमें प्रेम जोडना! जिससे पुर्वप्रेमका नाश होताहै।

विवेचनः-अपनी या अन्यकी जो काया उसपर मुनिका प्रेम होतो, वहांसे देही माने आत्माको विवेक ज्ञान करके छुडाना। पश्चात् वह कायाके बजाय उत्तम काया माने चिदानंद युक्त आत्मारूपी काया उसपर प्रेम लगाना। वहभी अंतरदृष्टि से प्रेम आत्मा रुपी कायामें लगाना। ऐसा होनेसे प्रथमका जो काय स्नेह वह दुर होता है।

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात् प्रशाम्यति।
नाय तास्तत्र निर्वान्ति कृत्वाऽपि परमं तपः॥४१॥

अर्थः-आत्माविभ्रम जन्य जो दुःख वह आत्म ज्ञानसे नष्ट होता है। जो परम तप करकेभी अयत्न पर जो है वह मुक्ति पाता नहीं।

विवेचनः—शरीर, मन, वाणी में आतम बुद्धिसे उत्पन्न भया हुआ विभ्रम, और विभ्रमसें उत्पन्न भये हुये अनेक प्रकारके दुःख, वह आत्मज्ञानसे करके नष्ट होते हैं। आतम ज्ञानकेवास्ते यत्न न करने वाले घोर—महाक्लेश कारक तप करकेभी मुक्ति पदको नहीं पासकते। श्रीयशोविजयजी उपाध्याय कहतेहैं किः—

आतम अज्ञानें करी, जेभव दुःख लहीए ॥
आतम ज्ञाने ते टळे, एम मन सद्दहीए ॥१॥आतम

आतम अज्ञानसे होता दुःख, आत्मज्ञान होनेसे नष्ट होता है। ऐसी शुद्ध श्रद्धा करनी।

रज्जु अविद्या जनित अहि, मिटे रज्जुके ज्ञान ॥
आतम ज्ञानै त्युं मिटै, भाव अबोध निदान ॥३४॥
धर्म अरूपी द्रव्यके, नहीं रूपी परहेत ॥
अपरम गुन राचै नहीं, यूं ज्ञानी मति देत॥३५॥
नैगमनयकी कल्पना, अपरम भाव विशेष ॥
परम भावमें मगनता, अति विशुद्ध नय रेख॥३६॥

विवेचनः—अंधकारमें दूरसे देखते, डोरी (रज्जु)—रस्सी सर्पवत् मालुम हुई, और मनमें जानाकि, अरे येतो सर्प है! ऐसा निश्चय करके मनमें भय लगा तथा दिलमें विचार हुआकि;

ये सर्प होतो हिलना चाहिये और यहतो स्थिर लगता है। वास्ते ये सर्प है या रस्सी? फिर उसके पास गया, तोभी स्थिर साक्षात् हुआ गाहवीरमें तपास करके देखातो मालुम हुआ कि, यहतो रस्सी है। तब समज में आया कि, प्रथम रस्सीमें सर्प बुद्धिथी; मगर रस्सीका निश्चय होनेसे सर्पबुद्धि नष्ट होगई। वैसे देहादिकमें अविद्याके योगसे आत्म भ्रान्तिकी बुद्धि हुई है; मगर जब आत्म ज्ञानका निर्धार-निश्चय हो तब देहाकिमेंसे आपसे आप ही आत्मबुद्धिकी भ्रांन्ति टल जाती है, और मात्र मिथ्यात्वादि भ्रान्तिके कारण आत्माके आत्मज्ञानसे नष्ट होते हैं।

अरूपी आत्मद्रव्यका धर्म भी अरूपी है। वह अरूपी आत्मद्रव्य धर्म के हेतुरूप नहीं। सबबकि, अरूपी धर्ममें रूपी की कल्पना कभी नहीं घट वैसे सकती अपनी जातिसे भिन्न ऐसा पुद्गलद्रव्य है,वे आत्मद्रव्यमें निश्चयसे देखते कारणीभूत नहीं। परस्पर लक्षणसे जो द्रव्य अलग हैं,भिन है,वे आपस आपसमें उपकारक बन सकते। अपरम गुणमें निमग्न नहीं होना चाहिये। इस प्रकार ज्ञानी अपनी सम्मति दे रहे हैं। अपरम भाव विशेष नैगम नयकी कल्पना है। अति विशुद्धनय माने शुद्ध निश्चयनय जानना। उत्कृष्ट आत्मधर्ममेंही रमण करना वे निश्चय नयका मार्ग है। नैगम नयकी कल्पनासे जो जो धर्म करणी होती है, वह आरंभभाव विशेष है। वास्ते शुद्ध आत्मधर्ममें मग्न रहना।

रागादिक जब परिहरी, करे सहज गुण खोज ।
घटमेंभी प्रगटे तदा, चिदानंदकी मोज ॥३७॥
रागादिक परिणाम युत, मनहि अनंत संसार ।
तेहिज रागादिक रहित, जानि परमपद सार ॥३८॥
भव प्रपंच मन जालकी, बाजी जूठी मुल ॥
चार पांच दिन सुखलगे, अंत अंधूलकी धूल ॥३९॥

विवेचनः—राग, द्वेष, परभाव आदि त्याग करके अपने आत्मामें गुणोंकी खोज करें, तो अपने आत्मामेंही चिदानंदकी मोज प्रगटती है । जो अनंत सिद्ध परमात्मा हुये हैं, होते हैं और होंगे वह अपने स्वगुणोंकी ध्यान द्वारा खोज करके हुए हैं । जहांतक वास्ते आत्माके गुण प्राप्तिके ध्यान द्वारा खोज न करनेमें आवे वहांतक मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती । श्री यशोविजयजी उपाध्याय आतम गुणकी खोज करते अनुभव ज्ञानसे कहते हैं किः—

चेतन अब मोहे दर्शन दीजे, तुमदर्शन शिवसुख पामीजे; तुम दर्शन भव छीजे, चेतन ॥१॥

अपने आत्माका ध्यान और उसमें रमणता, तथा विना

स्थिरताके चिदानंदकी मोज मगट नहीं हो सकती। अनुभव ज्ञानका रस जिसने जाना उसनेही जाना।

राग और द्वेषका परिणाम जनक मन वेही अनंत संसार है और रागादिकसे रहित ऐसा मन वही परमपद समजना। मनको वश करना वेही सबसे वडे वडा जय है। योगज्ञानीने मन पांच मकारका कहा है। १ क्षिप्तमन २ मूढमन, ३ विक्षिप्त मन। ४ एकाग्रमन। और ५ निरूद्धमन। उसमें क्षिप्तका लक्षण कहते है:-

अपने चित्त सन्मुख कल्पे हुए विषयमें, रजोगुणसे युक्त वैसेही सुखदुःख सहित, स्थापन किया हुआ मन व वहिर्मुखताको पाया हुआ उसको क्षिप्त मन कहते हैं।

जिसमें विशेप मकारसे तमोगुण हो, क्रोधादिक सहित, विरूद्ध काममें तत्पर हो, वैसेही कृत्याकृत्यके विवेक रहित हो ऐसे मनको मूढमन कहते हैं।

सुख दुःखके कारण तथा शब्द, रूप, रस और गंधमें (सुगंधीमें) वर्ते हूए चित्तको विक्षिप्तमन कहते हैं।

राग तथा द्वेषादिकसे रहित ऐसा गुणवंत पुरूषोंके निरंतर खेदादिकका परिहार करनेसे, जो मन सर्व कार्योंमें समान हुआ है उसको एकाग्रमन कहते हैं।

जिसकी विकल्प वृत्ति शांत हुई है, और जिसका मन अवग्रहादि क्रमसे पीछे हता हुआ है, निवृत्तिको प्राप्त भया है, ऐसे आत्म स्वभावमें रमण करनेवाले मुनियोंका मन निरूद्ध-मन कहलाता है। चित्तकी तीन दशाएं तो आत्मसमाधिमें उपयोग वाली नहीं है। चित्तकी अंतिम दशाए आत्म समाधिमें उपयोगी होती है। क्षणमें मनको सालंबन मुक्त करे, और क्षणमें निरालंबन करे। इस प्रकारसे अनुभवकी परि पक्वतासे निरालंबनपना प्राप्त होता है। फिर कहा है कि—

आलम्बैक पदार्थं यदान किंचिद्विचिंतये दन्यत् ॥
अनुपनतेन्धन वन्हि वदुपशांतं स्यात्तदाः चेतः ॥१॥

अर्थः—मन एक पदार्थका अवलंबन करके जब अन्य कुछ नाचिंतवे, तब जैसे विना काष्टकी अग्नि उपशमती है, उस मुताबिक मनभी उपशमपनेको प्राप्तता है। फिर शांत मन होते क्या होता है सो बताते हैं।

शान्ते मनसि ज्योतिःप्रकाशते शान्तमात्मनःसहजम्॥
भस्मी भवत्यविद्या मोहध्वान्तं विलय मेति ॥ १ ॥

अर्थः—मन आत्मस्वरूपमें शान्त होते, सहज शान्त आत्माकी ज्योति प्रकाशमान होती है, और जब आत्मज्योति प्रगट होती है, तब अविद्या भस्मीभूत हो जाती है, और मो-

हांधकार समूल नष्ट होजाता है । जिसको आत्मज्ञानके अनुभवका निश्चय नहीं, बाह्यदशामें क्षण क्षणमें चित्त बंदरके समान भ्रमण करता है, वे चारित्र मार्गसे भ्रष्ट है; तथा बाह्यक्रियाके आचरणसे, चारित्राभिमानी है, वहभी ज्ञानी. नहीं है । वास्ते समजनेका कि, मनकी स्थिरता होतेही आत्मा वेही परमात्म रुपसे प्रकाशमान होता है। ऐसा मनका स्वरुप जानके निश्चय करना ।

भव प्रपंचभूत जो मन, उससे बनी हुई जाल, उसकी बाजी झूंठी है; तोभी उसमें मग्न होकर रहने वाले जीवोंको थोडे वक्त तक तो उससे सुख लगता है । मगर अखिरको मिट्टीकी वस्तु वह मिट्टीरुपही हो जाती है । घरबार, स्त्री, पुत्र, दौलत, धन ओर शरीरादि सुखकारी लगते हैं; मगर आंख मिंच जानेके बाद (अर्थात् मरजानेके बाद) सब फना होजाता है । कुछ हातमें आता नहीं, और कोई वस्तु परभवमें साथ नहीं आती । कहा है किः-

बाजीगरनी बाजीजेवी जूठी जगत जंजालरे ॥
झांझवाना नीर जेवुं जूठुं जगतनुं व्हालरे..॥भ.॥४॥
मोह बागुरी जाल मन, तामें मृगमत होउ ॥
यामें जो मुनि नहीं परे, ताकूं असुखन कोउ॥२०॥

जब निज मन सन्मुख हुए, चितैन परगुण दोष ॥
तब बहुराइ लगाइये, ज्ञान ध्यान रस पोष ॥ ४१ ॥

विवेचनः-मोहरूपी शिकारी और मन रूप जाल उसमें पडाहुआ जीव मृग समान जानना । समजनेका कि, मोह-रूपी शिकारीने संसारी जीव रूप मृगोंको पकडनेके लिये मनरूप जाल विस्तारी है । वे मन जालमें मृग समान होके हे मुनियों! तुम पडना नहीं । उसमें जो मुनिवर्य मृग समान होके न गिरे उसको होता है । संकल्प विकल्प मन वेही मोहरूपी शिकारी उसको किसी प्रकारका दुःख नहीं है जो मनकी जालमें फंस वे शिकारीकी जालमें पडे हुए मृग समान दुःखी होते हैं की जाल समझना, और मनरूप जालमें पडे हुए मुनि वह मृग समान । जो उसमें पडते नहीं वे दुःखी नहीं । जब मन आत्माके सन्मुख हो अन्यके दोष तरफ दृष्टि नहीं देता, तब बहूत प्रकारसे मनको आत्मामें लगाना कि, जिससे ज्ञान, ध्यानके रसकी पुष्टि हो ।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च, विषया नभि वांछति ॥
उत्पन्नात्म मतिर्देहे, तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

अर्थः-जिसको देहमें आत्माबुद्धि है, वह शुभ शरीर और दिव्य विषयकी वांच्छना करता है, और तत्वज्ञानी उस से छूटकारा पाने इच्छता है ।

विवेचनः—देह वेही आत्मा, ऐसे जिसकी बुद्धि वर्तती है, वह शुभ और सुंदर शरीर, दिव्य विषय भोग, और स्वर्गके भोग चाहता है। जो अन्तरात्मा तत्त्वज्ञानी है, वह शरीर, तथा भोगादिकसे छुटने चाहता है। ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टिमें, आकाश और पाताल जितना फर्क है। अज्ञानी जिससे बंधजाता है उससे ज्ञानी छुटता है।

परत्राहंमतिः स्वस्माच्च्युतो, बध्नात्य संशयम् ॥
स्वस्मिन्नहं मतिश्च्युत्वा, परस्मान्मुच्यते बुध ॥४३॥

अर्थः—अन्यमें अहंमतिवाला आत्मासे भ्रष्ट हो असंशय बांधता है; और स्वात्मामें अहंमतिवाला ज्ञानी अन्यसे परसे च्युत हो मुक्त होता है।

विवेचनः—परत्र माने शरीर, मन, वाणी, गृह, धन कंचन और कामिनी आदिमें आत्मबुद्धि वाला बहिरात्मा स्वात्मासे च्युत होके आत्माको कर्म बंधनसे बांधता है: मगर ज्ञानी आत्मामें अंहबुद्धि धारणकर शरीरादिकसे रहित हो मुक्तिपद पाता है।

अहंकार परमें धरत, न लहे निजगुणगंध ॥
अहंज्ञान निजगुण लगे, छूटेपरहि संबंध ॥४४॥

इसका अर्थ तेनालीसमें श्लोकके अंदर आगया है। पर-अन्तमें आत्मबुद्धि धारण करनेवाला जीव आत्मगुणकी सुगंध-

भी पाता नहीं। आत्मामें अहंपना लगेतो कर्मका संबंध छुटता है।

आत्मप्रकाशमें कहा है कि;—

अहं वृत्त्युद्भव थतां, अशुद्ध परिणति पोष ॥
अहंवृत्ति छे ज्यां लगी, मिटे न तावत् दोष ॥१॥
अहंवृत्ति उदये ग्रहे, भ्रात मातने तात ॥
अहंमंत्र मोहारिनो, स्मरतां नरके पात ॥ २ ॥
जे अज्ञानी जीव छे, पशुसम वर्ते सोय ॥
अहंवृत्ति तेमां घणी, कह्युं विचारी जोय ॥ ३ ॥

भव्य जीवोंने अन्यमेंसे अहंवृत्ति दूर कर, अपने आत्म स्वरूपमें अहंत्व धारण करना।

दृश्यमान मिदं मूढ स्त्रीलिङ्ग मवबुध्यते ॥
इदमित्यवबुद्धस्तु, निष्पन्नंशब्द वर्जितम् ॥४४॥

अर्थः—यह दृश्यमान् त्रिलिंगवाले शरीरको मूढ, आत्मा धरता है, और अवबोध पाया हुआ, अजनिष्पन्न और शब्द वर्जित वही आत्मा ऐसे जानता है।

भावार्थः—दृश्यमान जो शरीरादि वे, स्त्रीलिङ्ग, पुरुषलिङ्ग और नपुंसक ये तीन लिङ्ग विशिष्ट उसको, मुढ माने बहिरात्मा प्राणी आत्मा जानता है। आर दृश्यमान्से अलग हो

बोध पाया हुआ अन्तरात्मा ये शब्द वर्जित अरूपी आत्म तत्त्वको आत्मारूप स्विकारता है ।

अर्थ त्रिलिंगी पद लहे, सो नहीं आतमरूप ॥
तौ पद करि क्युं पाईए, अनुभव गम्य स्वरूप ॥४३॥

चुन्मालिसमें श्लोकमें इसका अर्थ समा जाता है। उससें समज लेना । स्त्री, पुरुष और नपुंसक लिंग रूप आत्मा नहीं, आत्मा स्त्री नहीं, आत्मा पुरुष लिंग नहीं, नपुंसक नहीं वास्ते लिंगसे भिन्न अनुभव गम्य आत्मस्वरूप जानना। जो शब्दोंमें लिंगके वादसे सीर्फ शास्त्रार्थ करनेवाले हैं ? और केवल आत्मतत्त्वसे अज्ञात है तो उनोंका ज्ञान विद्या कर्मका नाश नहीं कर-सक्ती । वास्ते तीनों लिङ्गोंसे रहित ऐसा आत्मतत्त्व-हृदयमें धारण करना ।

जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं, विविक्तं भावयन्नपि ॥
पूर्व विभ्रम संस्काराद्, भ्रान्ति भुयोऽपि गच्छति ४५

अर्थः-आत्माका तत्त्व जानना तथा विविक्त भावना करते हैं तथापि पूर्व विभावके संस्कारसे पुनःभी चैतन्य भ्रान्ति पाता है ।

विवेचनः-आत्माका तत्त्व जानता है, वैसेही विविक्त माने शरीरादिकसे भिन्न इस मुताबिक भावना करता है तोभी

पूर्वावस्थामें जो विभ्रमथा उसके संस्कारसे फिरसे (जीव) भ्रान्ति पाता है। वास्ते आतम स्वरूपका दृढ स्थिर उपयोग रखना। कदापि परवस्तुमें आत्म भ्रान्ति हो जाय तोभी पुनः आत्म स्वरूपका स्मरण कर आत्म स्वरूपमें रमणता करनी।

आतम गुण अनुभवतभी, देहादिकतें भिन्न ॥
भुलै विभ्रम वासना, जो वहि फिरै न खिन्न ॥४३॥

विवेचनमें समझना चाहिये कि, पैंस्तालीसमें श्लोकमें के अर्थमें इसका अर्थ आजाता है। क्षयोपशम चेतना योगसे आत्मगुणका अनुभव करतेभी पूर्व विभ्रम वासनाके योगसे पुनः आत्मस्वरूप भूला जाता है, वास्ते आत्मस्वरूपकी क्षण क्षणमें ऐसी भावना करनी कि, स्वप्नमेंभी देहादिकसे भिन्न आतम स्वरूपका अनुभव हो। ऐसे आत्मस्वरूपकी भव्य जीवोंने भावणा॥

अचेतन मिदं दृश्य, मदृश्यं चेतनं ततः ॥
क्वरूष्यामि क्वतुष्यामि, मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः॥४६॥

अर्थः–ये दृश्य वे जड है, और अदृश्य चेतन है, तब कहां रोष करूं? कहां तोष मानु? वास्ते अब तो मैं मध्यस्थही होताहूं।

विवेचनः–इस इंद्रियोंसे प्रतीयमान, द्रव्य, शरीर, मन, वाणी, वर्णादिक युक्त सात धातु, अनेक प्रकारके शरीर, व-

खार, दुकान, गिरनी (Mill) धन, धान्य, वस्त्र, पात्र, मेज, खुरशी, बाग और मिष्टान्नादि सर्व अचेतन अर्थात् जड हैं। और जो जड हैं वे ज्ञानसे रहित है। जडमें सुख दुःख जाननेकी शक्ति नहीं। तथा अमुक मेरा मित्र यहभी जाननेकी शक्ति उसमें नहीं है। जो जो पदार्थ आंखसे दिखाई देते हैं वे सर्व पदार्थ जड जानना। जो दृश्य वस्तु है वह जड है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल सिवाय इन चार द्रव्योंके शेष जो अदृश्य तत्व वेही आत्मा है, तो रोष और तोष किसपर करना? सबबकि, जो दिखता है वे तो जड वस्तु है, उससे उसपर रोष तोष करना उचित नहीं, जड वस्तु कुछ समझ सक्ती नहीं, और चेतन तो अदृश्य है तो उसपर विना देखे क्रोध हो सक्ता नहीं, वा अदृश्य ऐसे आत्मापर रोष तोष करना घटित नहीं। वास्ते अपने आत्माको अपने आप समझाकर स्वस्वरूपमें मग्न रहना।

देखे सो चेतन नहीं, चेतन नहीं देखाय ॥
रोष तोष किनखुं करे, आपही आप बुझाय ॥४५॥

विवेचनः–इसके अर्थका समावेश छेंतालीसमें श्लोकमें होता है। यह श्लोक वारंवार स्मरण करने योग्य है। अर्थ सुगम है। इसके स्मरणसे रागद्वेषका अभाव हो जाता है। जड वस्तुओंमें रागद्वेषकी बुद्धि धारण करना यह अज्ञानता

है। जड वस्तुमें इष्टपना और अनिष्टपनेकी आत्माने अज्ञानतासे कल्पना करली है। आत्मज्ञान होते अन्य वस्तुमें होतथा अनिष्टानिष्टका अभ्यासने छूट जाता है। राग और द्वेषभी आत्माके अज्ञानपनेसे होते हैं। अपि आत्मज्ञान होते सर्व दोष टल जाते हैं। और आत्मा स्वस्वरूपसे प्रकाशमान होता है।

त्यागा दाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित् ॥
नान्तर्बहिरुपादानं नत्यागो निष्ठितात्मनः ॥४७॥

विवेचनः—मूढ माने बहिरात्मा बाह्य वस्तुका त्याग उपादान करता है। आत्मासे भिन्न वस्तुमें द्वेष होते वे वस्तुका अभिलाष मात्र हो, उसमें मूर्ख उसका त्याग करता है। फिर उसमेंही राग प्रगट होते उसको ग्रहण करता है। और अन्तरात्मा अध्यात्ममें दुःखका त्याग ग्रहण करता है। अर्थात् अन्तरात्मा अंतरमें रहे हुए राग द्वेष कर्मादि उसको त्यागता है और अनंतज्ञान तथा अनंतदर्शन आदि अपने गुणोंका उपादान साध्यग्रहण करता है। जो कर्मरहित सिद्धात्मा हैं उनोंको बाह्य या अंतरमें त्याग तथा ग्रहण नहीं है। सबबकि, त्यागनेका जो आत्मस्वरूप वह प्रथमसेही ग्रहण किया है। उससे उनोंको त्याग ग्रहण कुछ नहीं है। ऐसी तीन प्रकारकी आत्माकी स्थिति सदाकाल वर्तती है।

त्याग ग्रहण बाहिर करे, मूढ कुशल अतिरंग ॥
बाहिर अन्तर सिद्धकुं, नहीं त्याग औ संग ॥४८॥

मूड जीव बाह्य वस्तुमें त्याग तथा ग्रहण बुद्धि धारण करता है। अन्तरात्मा अंतरमें रहे हुए राग और द्वेषका तथा ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मोंका त्याग करता है, और आत्माके आठ गुण, आत्माकी अनंतऋद्धि उसका ग्रहण करता है, अर्थात् अन्तरात्मा आविर्भावकी अपेक्षासे स्वगुण औस्वपर्यायका ग्रहण करता है, सिद्धात्माको बाहिर वा अंतरसे त्याग या ग्रहण कुछ रहता हो नहीं। वास्ते समझनेका कि, बहिरात्माका त्याग कर, अन्तरात्मा होकर परमात्मपदको प्राप्त करना कि, जिससे शाश्वत शांति मिले।

युञ्जीत मनसाऽत्मानं, वाक्कायभ्यां वियोजयेत् ॥
मनसा व्यवहारं तु, त्यजेद्वाकाय योजितम् ॥४८॥

अर्थः—आत्माको मनके साथ योजना, उसको वाणी वाचा और कायासे वियुक्त करना, आर मनसे वाणी काया योजित व्यवहारका त्याग करना

विवेचनः—आत्माको मनके साथ योजना, और वाणी तथा कायासे आत्माको अलग करना। काया और वाणीका मनकी साथ योजाहुआ व्यवहार वहभी मनसे त्याग करना।

कायासे जो जो किया जाता है, तथा कायासे जो अनुभवमें आता है, वह आत्मा नहीं। वैसे वाणीसे जो बोला जाता है, वह आत्मा नहीं। वाणी और कायामें मनका व्यापार न मिले तो काया और वाणीके व्यापार लुखे व निरस लगते हैं, और जो जो कृत्य औदायिक भावना के योगसे करने पडते हैं, वे सब निरागतासे होते हैं। वास्ते श्लोकमें बताया हुआ उपाय, उपयोगसे वर्तणुकमें धरना। तदनुसार चलनेके लिए प्रयत्न करना चाहिये।

आतम ध्याने मन धरै, वचन काय रति छोड॥
तो प्रगटै शुभवासना, गुण अनुभवकी जोडि ४७

भावार्थः—भव्य प्राणी वचन और कायाकी रति छोडकर यदि आतमज्ञानमें मन लगावे उसमें लयलीन बनजावे, सिवा आत्माके मनको अन्यमें जाने नदे तो अंतरमें शुभवासना प्रगट होती है और वह आतमगुणके अनुभवमें जोड देती है। वास्ते आत्मज्ञानीने मनका लय आत्मामेंही करना। मन हाथीसें-भी मस्तान है। एकदम बाह्य विषयमें मर्कटवत् चंचल, भटकता चित्त वश नहीं किया जा सकता है। धीरे २ आत्मामें जोडना। ऐसा करनेसे संकल्प विकल्पकी जाल नष्ट होगी। मन द्वारा अनेक प्रकारके बंधने कर्म नष्ट होंगे, और अनुभव रूप सूर्य हृदयमें

प्रगट होगा। अतः व ईश्वर आत्माकी अनंतऋद्धि आत्माको मिलती है। अर्थात् आत्मा वे परमात्म स्वरूप होता है।

जगद्देहात्म दृष्टीनां विश्वास्यं रम्य मेवच ॥
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां, कविश्वासः वारतिः॥४९॥

अर्थः-देहात्म दृष्टी वालेको जगत् विश्वास योग्य है, रम्य है। परन्तु स्वात्मामें आत्मदृष्टि वालेने कहां विश्वास करना? और कहां रति आनंद मानना करना!

विवेचनः-पुत्र, स्त्री और मित्रादिसाथ वाणी और कायाके व्यवहारसे सुखउत्पन्न होता है तो उसका त्याग कैसे करना? ऐसी शंकावालेको उत्तर देते कहते हैं कि, जो बाहिरात्मा है उसको पुत्र, स्त्री, जगत् आदि कुटुंब विश्वास करने योग तथा प्रिय लगता है, मगर जिसको आत्मामेंही आत्मदृष्टि हुइ है, ऐसे समकितवंतने किस पदार्थमें विश्वास करना? और कहां आनंद धारण करना?

सर्व पदार्थ आत्मासे भिन्न हैं और जो भिन्न पदार्थ हैं उसमें आत्माको आनंद नहीं होता। वास्ते आत्मज्ञानी जगतमें विश्वास तथा रति आनंद धारण करना नहीं अर्थात् वह औदासीनता धारण करता है।

आत्मज्ञानात् परं कार्यं, न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किंचित्, वाक्कायाभ्यामतत्परः ५०॥

अर्थः—आत्मज्ञानसे अन्यकार्य बुद्धिमें बहुत समय पर्यंत धारण करना नहीं; और अर्थ-वशसे किंचित् करना वहभी अतत्पर रहके करना । जल कमलवत् ।

भावार्थः—आत्मज्ञानसे अन्यकार्य बुद्धिमें बहुत वक्त तक आने देना नहीं । आत्मज्ञानरूप कार्य वही बुद्धिमें बहुत वक्त आने देना । वैसे अन्यभी भोजन व्याख्यानादिक जो कुछ होवे वाणी तथा कायासे करना । अर्थात् अर्थको लेकर कुछ स्वपरोप-कार रूप कार्य करना होतो वे करना, मगर उसमें विना आसक्ति धारण किये वे कार्य करना । यह विषय आत्मज्ञानीने वर्तन-में रखना, विना चलनमें रखे उच्चपदकी प्राप्तिकी आशा—आकांक्षा रखना व्यर्थ है । आत्मज्ञानकोही उत्सर्ग मार्गसे चिंतन करना ।

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे, नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ॥
अन्तः पश्यामि सानंदं, तदस्य ज्योति रूत्तमम् ॥ ५१॥

अर्थः—जो मैं इन्द्रियोंसे देखता हूं वे मेरा नहीं, है और जो नियतेन्द्रिय होकर अंतरमें देखताहूं वे सानंद उत्तम ज्योति रुप मेरा स्वरूप है ॥

विवेचनः—जो शरीरादिक पदार्थ इन्द्रियोंसे मैं देखता हूं वे मेरा रूप नहीं है। सबब कि, चक्षुरादि इन्द्रियाँ रूपीपदार्थोंके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, और शब्दको ग्रहण कर सक्ती है; परन्तु आत्म स्वरूप तो अरूप है। उसको बाह्य चक्षुरादि इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सक्ती। बाह्य इन्द्रियोंको स्थिर करके अंतरमें स्वसंवेदनसे जो ज्योति देखताहूं वेही आत्मस्वरूप है। सानंद आत्मज्योति है। जो जीव बाह्य वस्तुमें सुख मानकर आत्मज्ञानसे पराङ्मुख होकर उपर उपरसे नही और देव मंदिर वगेरहको तीर्थ गिनके उनकोही संसारका एकांती सागर तारक उपाय गिनता है वह अज्ञानी है। अन्यमत वादियोंके शास्त्रमें कहा है किः—

इदं तीर्थमिदं तीर्थ, ये भ्रमन्ति तमोवृताः ॥
आत्म तीर्थ न जानन्ति, तेषां तीर्थ निरर्थकम् ॥१॥

ये श्लोक समजकर आत्मा स्वरूपको तीर्थ रूप गिनके उस (आत्मा) का ध्यान करता अंतरदृष्टिसे आत्मा द्रव्य है। वास्ते उसका अनुभव करना चाहिये।

सुखमारब्ध योगस्य, बहिर्दुःख मथात्मनि ॥
बहिरेवा सुखं सौख्य, मध्यात्मं भवितात्मनः ॥५२॥

अर्थः—योगारंभीको बाह्यमें सुख और अंतरमें दुःख लग

त्ता है, और सिद्धयोगीको अंतरमें सुख और बहिरमें दुःख लगता है।

विवेचनः—आत्म स्वरूपका प्रथम अनुभव करनेवालेको बाह्यविषयमें सुख पडता है, और आत्म स्वरूपमें दुःख मालुम होता है। मगर यथार्थ आत्म स्वरूप जाननेवाले सिद्ध योगीको केवल आत्म स्वरूपमेंही सुख लगता है। बाह्य विषय असुख रूप लगते हैं।

योगारंभीकूं असुख, अंतर बाहिर सुख ॥
सिद्धयोगकूं सुखहै, अंतर बाहिर दुःख ॥४८॥

भावार्थः—बावनमें श्लोकमें इसका अर्थ आजाता है। योगारंभीको प्रथम जगतमें दिखाई देते द्रव्यपदार्थोंमें सुख बुद्धि होती है। सबब कि उसे अभी आत्म निश्चय, आत्मानुभव प्रगट हुआ नहीं। परन्तु जब सद्गुरुद्वारा, नयनिक्षेपोंसे आत्मस्वरूपका निश्चय हो, और उसमें रमणता हो, तब उसको आत्मामेंही सुख है, ऐसा निश्चय होता है। पश्चात् वे काया, मन, वाणीसे आत्माको अलग कर निराले बनपनेसे ध्यान धरता है तब अंतरमें सुखका महासागर प्रगटता है, और वह सुखसागरके तरंगमें—लहरीयोंम अखंड आनंद भोगवता है। तब वैसे योगिको पंचन्द्रियाके विषय जहर समान दुःख देनेवाले लगते हैं। बाह्यप्रपंचमें उसको शांति मिळति

नहीं। विकल्प संकल्प उत्पन्न होते हैं ऐसे जनोंकी संगतिसेभी दूर रहता है। सीर्फ सहज आत्मिक सुख भोगवता है। वैसे सिद्धयोगिको बाह्यपदार्थोमें केवल दुःखही लगता है। उससे समजनेकाकि, जहांतक बाह्यवस्तुमें जिसको सुख लगता है वह अज्ञानी है, और अंतरमें जिसको सुखका निश्चय हुआ है; और वह अज्ञानी है, और अंतरमें जिसका सुखका निश्चय हुआ है; और बाह्य वस्तुके संबंधसे, भोगसे, सुख नहीं है ऐसा जिसने जाना है वह सिद्ध योगि होनेका सद्गुरू संगति कर आत्मज्ञान ग्रहण करना।

तद्ब्रूयात्परान् पृच्छेत्, तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ॥
येना विद्यामयं रूपं, त्यक्त्वा विद्यमयं व्रजेत् ॥५३॥

अर्थः—वेही बोलना और उसकीही पृच्छा करनी, और उसकीही इच्छा करनी कि, जिससे अविद्यामय रुप त्यागाजाय और विद्यामयरुप प्राप्त हो।

विवेचनः—आत्मतत्वके विषे बोलना। अर्थात् उसकी अन्यके आगे बात करके उसकी सिद्धि करनी। वैसेही जिनोंने आत्म स्वरूप जाना है, उनोंको आत्मतत्वकी पृच्छा करनी, और आत्मतत्वका ज्ञान संपादन करना उसकीही इच्छा रखनी। अर्थात् आत्म तत्वकोही परमार्थतः सत्य मानना, और

आत्म स्वरूपमेंही निमग्न होना। ऐसा होनेसे बहिरात्म बुद्धि स्वरूप जो अविद्या उसका त्याग करके आत्मा विद्यामय माने ज्ञानमय आत्म स्वरूपको प्राप्त हो।

सो कहिये सो पूछिये, तामे धरिये रंग॥
यातें मिटे अबोधता, बोधरूप व्है चंग॥३९॥

विवेचनः—वेही आत्म स्वरूप कहना, और वेही आत्मतत्त्वकी पृच्छा करनी और उसीहीमें मुर्ख गजाठके रंग मुताबिक राग धारण करना; कि, जिससे अबोधता टले, और निर्मल ज्ञान स्वरूपमय आत्मा अपना स्वरूप प्राप्त करे। जगत्में अज्ञानी जन क्रोध, मान, माया और लोभकी उत्पत्ति हो वैसे वचन बोलते हैं। कितनेक लोग धनके लिये अहर्निश असत्य बोलनेकी प्रवृत्ति रहती है। कितनेक स्त्रीका वर्णन करके जिव्हाका सार्थक्य समजते हैं। कितनेक लोक हिंदुस्तान अमेरिकाको अपना देश मानके देशाभिमानसे अनेक प्रकारके लेकचर देते हैं। कितनेक कविजन मजाक मष्करीमें आनंद उत्पन्न करानेके वास्ते अनेक प्रकारकी कविताएं गाते हैं। ऐसे राग द्वेषकी वृद्धि करनेवाला बोलना आत्म हितकर नहीं है। अर्थात् वे सब निष्फल है, उससे आत्मिक लाभ मिलता नहीं। वास्ते वैसे प्रकारका बोलनाभी युक्त नहीं है। जिससे अबोधता टले, और मोक्षमार्गकी प्राप्ति हो, बोधकी प्राप्ति हो

ऐसाही बोलना । शास्त्रभी वैसेही प्रकारको वांचनाकि, जिससे आत्मज्ञान हो । अल्पायुष्य (थोडी उमर) उसमें सारमें सार आत्मज्ञानकी प्राप्ति करके, स्वरूपमें रमणता करनी यही है । अपनी जीभको वक्र वक्र करती गिवारना विकथा करनेमें बेकार दिन व्यतीत नहीं करना । बातें करनी वहभी आत्माके बारेमें करनी । क्योंकि, संसारमें सार आत्मा है । आत्मज्ञानकी पुस्तकें वांचना । पृच्छा करनी फिर उसमें परावर्तन कर जाना । फिर यह आत्मज्ञानकी अनुप्रेक्षा ( ) करनी । आत्माहीका ध्यान करना । श्री आनंदघनजी कहते हैं कि:—

आतम ध्यान करे जो कोउ, सो फिर इणमें नावे॥
वागजाल बीजुं सहु जाणो, एह तत्वे चित्त चावे ॥
मुनिसुव्रत ॥

जो प्राणी आसन लगा, अन्य वस्तुओंमेंसे चित्त खेंच, आत्माके असंख्यात प्रदेशोंमें चित्त स्थापन कर, अन्य संबंधी संकल्प विकल्प उनोंका त्याग कर, तदाकार वृत्तिसे शुद्धात्म स्वरूपमें ध्यान करता है, वे भव्य जीव अनेक मत वादीयोंकी विभ्रम पमलरूप जालमें फँस जाता नहीं । सिवा आत्मतत्वके और सब जाजाल प्रपंच जानना । ऐसा निश्चयनयसे आत्मस्वरूपही चित्तमें चाहे । जिस भव्य प्राणीने विवेकसे

उपादेय, साध्य, सारमें सार, आत्मध्यान संबंधी पक्ष ग्रहण किया हैं वेही आत्म तत्त्वज्ञानी कहना-वास्ते बोलना, पूछना इत्यादि सब काम वास्ते आत्मज्ञानकी प्राप्तिके करना।

शरीरे वाचि चात्मानं, संधत्तवाक् शरीरयोः ॥
भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं, पृथगेषां निबुध्यते॥५४॥

अर्थः-वाणी और शरीर ये आत्मा, ऐसी जिसको भ्रान्ति है, वे वाणी तथा शरीरको आत्मा मानता है। और जो अभ्रान्त। विना (भ्रान्तिवाला) वह शरीर और वाणी से आत्मतत्त्वको अलग जानता है।

विवेचनः-वाणी और शरीरका आत्मा जानने रूप जिसको भ्रान्ति है वैसा वहिरात्मा वे, वाणी और कायाको आत्मा जानता है। मगर यथार्थ आत्म स्वरूपको जानने वाला वह शरीर और वाणीसे आत्माको बराबर भिन्न जानता है।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु, यत्क्षेमकर आत्मनः ॥
तथापि रमते बाल, स्तत्रैवज्ञान भावनात् ॥५५॥

अर्थः-इन्द्रियार्थमें ऐसा कुछभी नहीं कि, जो आत्माको क्षेमकर (कल्याणकारी, हितकरे) हो। तोभी बाल अज्ञान भावनासे उसीहीमें खेलता है।

विवेचनः-पांच इन्द्रियोंके विषयमें ऐसा कुछभी नहीं कि, जो आत्माको कल्याणकारी हो; तोभी बहिरात्मा सूअरके मुताबिक विवेक रहित उसीमेंही रचमचके खेलता है। उसमें अज्ञान भावना वही कारण है। अज्ञानसे आत्मा जड समान बन गया है। श्रीयशोविजयजी उपाध्याय कहते हैकि,

हुं एनो एह माहरो, एहुं एणि बुद्धि ॥
चेतना जडता अनुभवे, न विमासे शुद्धि ॥आत्मतत्त्व १

ये मेरा, मैं इसका ऐसी जडके साथ अभेदबुद्धि होनेसे आत्मा जडताको अनुभवता है। कुछ अपनी शुद्धि कर नहीं सक्ता। वास्ते अज्ञान भावनारूप अंधकारको ज्ञानरूप सूर्यसे नाश करना योग्य है। अनादि कालसे आत्मा इन्द्रियोंके वशमें पडके कर्माष्टककी वर्गणाएंको ग्रहण कर, अनेकनकारके शरीर धारण कर, छेदन, भेदन शोक वियोग, क्षुधा, पिपासा, (भूख प्यास) वध, बंधन, जन्म, जरा और मरणके भयंकर दुःख पाताहै। वास्ते भव्य जीवने पंचेन्द्रियके विषयोंसे दूर रहके आत्मस्वरूपमें स्थितिकरनी चाहीए.

नहीं कछु इन्द्रिय विषयमें, चेतनकूं हितकार ॥
लोभी जन तामें [illegible] ो मोह अंधार ॥५०॥

भावार्थः-[illegible] र्यमें इसके अर्थका समाल

होजाता है । इन्द्रिय विषयमें चेतनको कुछ लाभ नहीं । लोभीजन–पुद्गलपर पुद्गलमें रमणकरते हैं । मोहरूप अंधकारमें अज्ञानसे अंधे बनेहुए जीव कुछ हिताहित नहीं देख सक्ता । कस्तुरीय मृग अपनी नाभीमें कस्तुरी है, वे जानता नहीं, उससे औरजगहसेसुवासना आतीहै ऐसी भ्रान्तिसे जंगलमें दौडता है । वैसे अज्ञानी जीव मोहसे और वस्तुमें सुखकी भ्रान्तिसे मग्न रहता है । अहो ! अहो ! मोहका कितना बडा भारी जोर है कि, मनुष्यावतारमेंभी सद्गुरू समजाते है तोभी नर्क कीटक समान अहर्निश परभावमें अमूल्य आयुष्य व्यतित करता है । अहो ! भव्यजीव ! अब तुं मनुष्य जन्म पाके जीवनकी साफल्यता कर ! अज्ञान रूप संसारका विषम बीज, उसको ज्ञानाग्निसे जलाके भस्म कर ! सर्व संयोगसे आत्माको अलग देख ! स्वप्न समान भ्रान्तिजनक संसारकी मोह मायाके तावेमें मतहो ! तेरे अपने स्वरूपमें सदाकाळ रह । विचारसे समजो कि, जो मुक्तिपाये, पातेहै और पांयगे, वह सब अपने स्वरूपमें रमणता करनेसेही पाताहै । धर्मध्यान और शुक्लध्यानका अवलंबन करके अपना आत्मस्वरूप प्रगट कर । वक्त जाता है, गया वक्त फिरके आनेवाला नहीं । सर्वोत्तम ध्यानसे अनंत आनंदमय परमात्मपदका ध्यान मंगल माला देता है । भव्य जीव स्वलक्ष अंतरमें रखता है । इन्द्रियोंमें दृष्टि नहीं देता ।

चिरं सुषुप्तातमसि, मूढात्मानः कुयोनिषु ॥
अनात्मीयात्म भूतेषु, ममाहमिति जागृति ॥५६॥

अर्थः-चिरकालसे अंधकारमें कुयोनिमें सूते हुए मूढा-त्मा जागतेही अनात्मीय भावोंमें मैं और मेरा ऐसा मानते हैं।

विवेचनः-अनादिकालसे बहिरात्मा सोए हुए है । अर्थात् विना समकित और ज्ञान निगोदादिकमें अतीव जडताको प्राप्त हुए सोयरहे है । वह जीवोंको गाढ मिथ्यात्व रूप निद्राकी लहरीएं ऐसी तो आ रही है कि, वेविचारे कुछ समज सक्ते नहीं । कदापि दैव योगसे संज्ञा पाई तो जागते है, तो मैं और मेरा मानतेही जागते है वह मैं और मेरा ऐसा अध्यासभी अपने आत्मासेभिभिन्न ऐसी वस्तुओंमें धारण करते है । अर्थात् पुत्र, स्त्री, घरवार, राज्य और धनादिकको अपने मानता है । ऐसा बहिरात्माका अध्यास भ्रान्तिवाला वर्तता है ।

पश्येन्निरंतर देह, मात्मनोऽनात्म चेतसा ॥
अपरात्मधीयाऽन्येषा, मात्मतत्त्वे व्यवस्थितः ॥५७॥

अर्थः-आत्मतत्त्वमें जो व्यवस्थित है, उसने अपने शरीरमें हमेशां आत्मबुद्धिसे देखना, और अन्य-औरके शरीरको अपरात्म बुद्धिसे देखना ।

विवेचनः-जिसमें अपना आत्मा रहा है, वे देहको यह आत्मा नहीं, ऐसी बुद्धिसे देखना। और पर-अन्यका देह वे परमात्मा नहीं ऐसी बुद्धिसे देखना। आत्मस्वरूपमें जिसने स्थिति की है, ऐसे पुरूपने इस मुताबिक हमेशां प्रवृत्ति करनेसे करना, उससे अंतरमें सहज उपयोग प्रगटेगा।

अज्ञापितन्न जानंति, यथामां ज्ञापितं तथा ॥
मूढात्मान स्तत तेषां, वृथामें ज्ञापन श्रमः ॥५८॥

अर्थः-जैसे विना कहे मुक्ते नहीं जानते वैसे कहते हुएभी नहीं जानते वैसे मूढात्मा प्रत्ये कहनेका श्रम व्यर्थ है।

विवेचनः-मुक्ते माने आत्म स्वरूपको जो मूढात्मा है वे-जैसे विना कहे नहीं जानते वैसे कहते हुएभी नहीं जानते तो-उनोंको कहनेका-उनोंकी बोध करनेका प्रयत्न निष्फल जानता।

यद् बोधयितु मिच्छामि, तन्नाहं यदहं पुनः ॥
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य, तत्किमन्यस्य बोधये ॥५९॥

अर्थः-जिसको बोध करने चाहता हूं वे मैं नहीं। व जो मैं हूं वे अन्यको ग्राह्य नहीं। तब अन्यको क्या बोध करना।

विवेचनः—जो विकल्पाधिरूढ आत्मस्वरूप वा शरीरादिकको बोध करने चाहताहूं, वे तो मैं नहीं। वह स्वरूप मैं आत्मा नहीं। मैंतो चिदानंद स्वरूप आत्मा हूं, वह अन्यको ग्राह्य नहीं। क्यों कि, आत्मा तो स्वसंवेदन ग्राह्य है। ऐसा है उससे क्या बोध करूं?

मूढतमसुं ते प्रबल, मोहे छोडि शुद्धि ॥
जगत है ममताभरे, पुद्गलमे निज बुद्धि ॥५१॥
ताकुं बोधन श्रम अफल, जाकूं नही शुभयोग ॥
आप आपकुं बुजवै, निश्चय अनुभव भोग ॥५२॥
परको किस्यो बुझावनो, तुं पर ग्रहण न लाग ॥
चाहे जेंग बुझव्यो, सो नहीं तुज गुण भाग ॥५३॥

भावार्थः—मोहसे शुद्ध आत्मस्वरूपकी शुद्धि जिसने छोडी है, ऐसे मूढात्माको पुद्गल द्रव्योंके स्कंधोंमें अहंममत्व बुद्धि होती है। और वह ममताभर अन्यमें जागता है, उसको और आत्मस्वरूपको अनुपयोग होता है। अर्थात् पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें तथा जडमें क्षयोपशम चेतना जिसने योजी है, वे मूढ आत्मा अपने स्वरूपका अनुपयोग होते हुए, और अनुपयोगरूप निद्रा योगसे द्रव्य जीवपनको पाते हुए वपरभाम, अपना आयुष्य निरर्थक गँवाता है। जीवके उपर चार निक्षेप

लगते हैं। इसमें सचित्त अगर अचित्त वस्तुका जो जीव ऐसा नाम व नामजीव। स्याद्वादपने आत्मस्वरूपका अनुपयोगी वह द्रव्यजीव जानना। ज्ञान, दर्शन और चारित्रादिक अपने गुणोंसे करके आत्मोपयोगी वह भावजीव जानना। यहां द्रव्यजीव वह पर अन्यभावमें जागता है। इससे वह परवस्तुमें अपना उपयोग मिलाते, और तन्मयपनेसे परिणमते हुए दुःख परंपराको पाता है।

जिसजीवको शुभयोग प्रगटा नहीं, अपने आत्म स्वरूप प्रत्ये रुचि नहीं हुई, और मोहरूप मदीरा (शराव) पीके मस्त बना है, उसको वास्ते बोध करने प्रयत्न करना वह निष्फल है। आपही अपने आत्माको निश्चयसे देखते समझ सकते हैं। ऐसा अनुभव ज्ञानसे ज्ञानी महाराजा कहते हैं। पांच समवायोंसे कार्यकी उत्पति होती है। विना भवस्थिति परिपक्व हुए उपदेश दानभी हृदयमें असर नहीं करता।

त्रेपनमें दीपक छंदको अर्थका एकुनसाठमें श्लोकमें अन्तर भाव होता है। उससे विस्तार नहीं किया।

बहिस्तुष्यति मुढात्मा, पिहित ज्योतिरन्तरे ॥
तुष्यत्यन्तःप्रबुद्धात्मा, बहिर्व्यावृत्त कौतुकः ॥६०॥

अर्थः—आन्तर ज्योति आच्छादित होनेसे, मुढात्मा वाह्यमें

आनंद मानता है, और प्रबुद्धात्मा बाह्य कौतुक टाल देके अंतरमें (ही) तोष मानता है।

विवेचनः—जिसको समकित प्रगटा नहीं, ऐसा मूढात्मा, बहिरात्मा शरीर, धन, धान्य, क्षेत्र, राज्य, वेपार, नाटक, स्त्री, पुत्र आदि बाह्य वस्तुओंमें सुख मानता है। जहांतक अन्तर आत्मज्योति ढकी हुई है, और उसका अनुभव हुआ नहीं, वहांतक मूढ पुद्गलोंमेंही आनन्द मानता है। मूढात्माको अज्ञान योगसे ऐसी दशा हो रही है। अन्तर ज्योति प्रगटती है तब ज्ञानी आत्मा आत्म स्वरूपमेंही आनन्द मानता है। बाह्य वस्तुओंमें स्वप्नमेंभी आनन्द नहीं मानता। बाह्य दशा-रूप नाटकके तमाशेसे अन्तरात्मा शांत होता है। ' बाह्य दशामें सुख नहीं ? ऐसी उसको दृढ भावना निश्चयको भजनेवाली होती है।

न जानन्ति शरीराणि, सुख दुःखान्य बुद्धयः ॥
निग्रहानु ग्रहधियं, तथाप्य त्रैव कुर्वते ॥ ६१ ॥

अर्थः—शरीर सुख दुःख जानते नहीं। तोभी अज्ञानी उसपर निग्रहानुग्रह बुद्धि रखता है।

विवेचनः—शरीर सुख दुःख नहीं जानते, क्योंकि, शरीर जड है। तोभी बहिरात्मा शरीरादिकके उपर निग्रह बुद्धि

और अनुग्रह बुद्धि करता है। द्वेषके वशसे शरीरादिकको भूखे रहना, फासी खानी, पंचाग्नि साधन करनी। इत्यादि पीडा करते है। रागके वशसे शरीरको आभुषण जेवर पहराना, अच्छे कपडोंसे शृगारना, तेलकी मालिश करना, स्नान करके शोभाना, वगेरह कार्योंसे अनुग्रर बुद्धि शरीरमें धारण करता है। ऐसे निग्रह और अनुग्रह बुद्धि शरीरादिकमें रखना वही संसार है। परवस्तुमें निग्रह और अनुग्रह बुद्धिसे प्रवतर्ता मन वेही संसार है। ऐसी बुद्धि जहांतक है वहांतक संसारमें परि-भ्रमण करना पडता है।

स्वबुध्या यावद् गृण्हियात्, कायवाक चेतसां त्रयम् ॥
संसारस्तथदेतेषां, भेदाभ्यासेतु निव्रतिः ॥ ६२ ॥
जबलौ प्रानी निजमते, ग्रहें वचन मन काम ॥
तबलौहै संसार थिर, भेद ज्ञान मिट जाय ॥५४॥

अर्थः—जहांतक प्राणी मन, वचन और काया इन तीनों-को आत्मबुद्धिसे ग्रहण करता है, वहांतक संसार स्थिर जा-नना। यह तीन आत्मासे भिन्न है, एसा भेद ज्ञान होते, संसार मिट जाता है, और मोक्षहोता है।

विवेचनः—स्वबुद्धिसे अर्थात् आत्मबुद्धिसे, मन वचन, और कायाको ग्रहण करता है वहांतक संसारमें परिभ्रमण

करना है। अनेक प्रकारकी भाषाए पढो, अनेक प्रकारकी शिल्प कलाए शिखो, अनेक प्रकारकी रसायण विद्या शीखो, अनेक प्रकारके हुन्नर शीखो, अनेक प्रकारकी कितावें शीखो, नाना प्रकारकी गायन विद्याए शीखो, न्यायका अभ्यास करो, व्याकरणका अध्ययन करो मगर जहांतक शरीरादिपर वस्तुमें आत्माकी वासना है, वहांतक मोक्ष होने (प्राप्त) वाला नहीं। सबब कि, सिवाय आत्मज्ञानके शेष ज्ञान वे अज्ञान है। जिनेश्वर भगवानने कहे हुए षड द्रव्य और उसके गुण, पर्यायका न्याय निक्षेपोसें सहित ज्ञान होता है, वही ज्ञान जानना। और वेही ज्ञानसे भेद ज्ञान प्रगट होता है, और ये भेद ज्ञान होनेसे आत्मा कर्मसे छुटता है, और परमात्मा स्वरूप बनता है। सकल प्रपचका मुल जो अविद्या वहभी क्षणमें नष्ट होती है। भेदज्ञानी आत्मा स्व आत्महीत साधन करके मनुष्य जन्म सफल करता है।

घने वस्त्रे यथात्मानं, न धनं मन्यते तथा ॥
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं, न धनं मन्यते बुधः ॥६३॥
नष्टे वस्त्रे यथात्मानं, नं नष्टं मन्यते तथा ॥
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं, न नष्टं मन्यते बुधः ॥६४॥
रक्ते वस्त्रे यथात्मानं, न रक्तं मन्यते तथा ॥

रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं, न रक्तं मन्यते बुधः ॥६५॥

सूखम घन जीरन नवै, ज्युं कपरे त्युं देह ॥

ताते बुध मानै नहीं, अपनी परिणति तेह ॥५५॥

जैसे नाशन आपको, होत वस्त्रको नाश ॥

तैसे तनुके नाशसे, आतम अचल अनाश ॥५६॥

भावार्थः—ज्ञानी जाडा वस्त्र पहिरनेसे, मैं स्थूल हूं ऐसा मानता नहीं। वैसे स्थूल होतेभी आतमा स्थूल है, ऐसा मानता नहीं। शरीर पतला होते, आत्मा पतला है, ऐसा मानता नहीं। शरीर शुष्क होते अपनेको शुष्क भया हुआ ज्ञानी नहीं मानता। कहा हैकिः—

पद.

अनुभव आतमानी वात करतां, लहेरी सुखनी आवशे. ए टेक.

रोगी नहीं तुं भोगी नहीं तुं, जाडो नहीं तलभारजी ॥

देहमां वसीयो, माया रसीयो, अनुपयोगे धार अ. ॥१॥

तुजथी सहु शोधाय व्हाला, आदि नहीं तुज अंतजी॥

मायामां मस्तान थई तुं, लाख चोरासी भमंत॥ अ॥२॥

पर स्वभावे भान भूली, ठर्यो नहीं एक ठामजी ॥

पाद नीचे रुद्धि प्रगट, देखे नहीं दुःख धाम॥अ॥३॥

कर्म साहिब राजीने, तने आपी नरनी देहजी ॥
साध्य सिद्धि साधी लेवुं, माग्या वरसे मेह ॥ अ.॥४॥
सोऽहं सोऽहं ध्यान लागे, जागे आतम ज्योतजी ॥
बुद्धिसागर भानु प्रगटे, थाय भुवन उद्योत ॥ अ. ॥५॥

इत्यादिसे समजनेकाकि, ज्ञानी अपने आत्मामेंही आत्मबुद्धि स्थापन करके, सब प्रपंचोंसे अलग वर्तता है। प्रति दिन एकान्त स्थानमें बैठके भावना चाहिये कि, सर्व पुद्गल वस्तुसे आत्मस्वरूप भिन्न-अलग है। एक दिनसे दूसरे दिनमें कुच्छ अनुभवमें वृद्धि होगी, अन्तमें स्पर्शज्ञानकी प्राप्ति होती है। तब-जैसे वस्त्र नष्ट होनेसे, शरीर नष्ट होतानहीं, वैसे औदारिक स्थुल शरीर नष्ट होनेसे, ज्ञानी अपने आत्माको नष्ट हुआ नहीं मानता। ज्ञानी ऐसा जानता है कि, शरीर ये पुद्गलके संगसे बना है, और वे जड है, उसमें चैतन्यपना कुछ नहीं। शरीर यह आत्माको रहनेका स्थान है, आयुष्य पूर्ण होनेकी हालतमें शरीर छुट जाता है, शरीर छुट जाते, आत्मा कृत कर्मानुसार अन्य गतिमें गमन करता है-जाता है। वहां पुण्य पापके अनुसार सुख दुःखके साधन पाके, सुख दुःख भोगवता है। फिर वहांसे आयुष्य पूर्ण करके, आत्मा अन्य गतिमें गमन करता है। ऐसे कर्म सत्तासे पुनः २ अनेक प्रकारके शरीर-धारण करके सुख दुःख भोगवता है। ऐसे अनादि

कालसे इस आत्माने चार गतिमें, अनेक जन्म धारण करके अनेक शरीर धारण किये, परन्तु अन्तमें पार आया नहीं अनेक भवमें अनेक शरीरपर ममता प्रेम धारण किया, आप कोइ शरीर अपना नहीं हुआ । तो अब ये शरीर जो अभी आंखोंसे दिखाइ देता है, वहभी अन्तमें अपना कहांसे होनेवाला ? वास्ते ज्ञानी जब पूर्वोक्त भेद ज्ञानसे द्रढ भावना धारण करके, शरीरको कभी अपना मानतेही नहीं, और अन्तमें शरीर नष्ट हो जानेसे आत्माको उससे अलग मानते हैं और संसारिक पदार्थोंमेंसे ममता भाव दूर करते हैं, और समताभाव क्षण २ में सेवते हैं । जिस भव्यके वास्ते अपने आत्माकी सिद्धि करनेके, ममताका त्याग करके समता अंगिकार की है, वे पुरुष यह भव तथा परभवके सर्व वैरभाव—शत्रुभावको टाल देता है । ऐसे समता धारी मुनिश्वरोंके पास रहनेवाले जानवर भी अपना जाति शत्रुभाव दूर करते हैं । जिसने वास्ते संसार रूप समुद्रको तिरनेके, ममता त्यागके, समता अंगिकार की है, उनको धन्य है । दुनियामें देवलोकके सुखतो दूर है, और मोक्षकी पदवी वडी है, तब मनकी पास प्रगट ऐसा समताका सुख भवमें प्रत्यक्ष है । फिर समतारूप अमृतके कुंडमें स्नान करनेसे कंदर्पका जहर नष्ट होता है । जो भव्य प्राणी एक क्षण मात्र मनको खेंचके समता सेवन करता है, तो वे प्राणीके आत्मामें ऐसे अद्भुत सुख प्रगट होता है कि, उसका वर्णन—बयान मु-

ससे कुछ नहीं हो सक्ता। जैसे—कुमारिका भर्तारके साथमें भोगविलास सुखको नहीं जानती—वैसे दुनियाके अज्ञानीजीव-भी मुनिश्वरकी समताके सुखको जानते नहीं। वैसे कोटीभवमें किये हुए कर्मभी समतासे एक क्षणमें नष्ट हो जाते हैं।

फिर समता ज्ञानका फल है। समतासे तप जप क्रिया कष्ट लेखे लगते हैं। वास्ते मोहराजाकी पुत्री ममता उसका त्याग करके भव्योंने समताका सेवन करना येही सार है। श्रीयशोविजयजी उपाध्याय पदद्वारा कहते हैं कि:—

चेतन ममता छांड परीरी, पर रमणीशुं प्रेम न कीजे,
आदर समता आप वरीरी ॥ चेतन ॥ १ ॥
ममता मोह चंडालकी बेटी, समता संजम नृप कुमरीरी ॥
ममता मुख दुर्गंध असती, समता सत्य सुगंध भरीरी ॥चे.२॥
ममतासे लरते दिन जावे, समता नहीं कोउ साथ लरीरी ॥
ममता हेतु बहुत है दुश्मन, समता को कोउ नहीं अरीरी चे.३
ममताकी दुर मति है आली, डायण जगत अनर्थ करीरी ॥
समताकी शुभमति है आली, पर उपगार गुणसु भरीरी ॥चे.४
ममता पूत भये कुलखंपण, रोग वियोग महा मछरीरी ॥
समता सुत होयगो केवल, रहेगो दिव्य निशान पुरीरी चे.५
समता मगन होयगो चेतन, जोतुं धारीश शील खरीरी ॥
सुजस विलास लहेगो तो तुं, चिदानंद घन पदवी वरीरी चे. ६

इस मुताबिक ममता और समताका स्वरूप समजके मुनीश्वर वा आत्महितेच्छु समताका सन्मान करते हैं, और निरंजन निराकार ज्योति स्वरूप आत्माको जानके उसमें रमणता करते हैं। सब वस्तुओंको आत्मासे भिन्न गिनते हैं। फिर आत्मज्ञानी ऐसा विचारते हैं कि, परवस्तुका संकल्प विकल्प करना वेही संसारमें बंधन है। परवस्तुके ममता योगसे विकल्प संकल्प करनेसे कर्मका ग्रहण है, और जब परवस्तु संबंधी संकल्प विकल्प नहीं होते तब आत्मा संवरभावको प्राप्त करता है। तत्वसे देखते ज्ञात होता है कि, संकल्प विकल्पही संसारमें स्थिरकरनेका एक प्रबल साधन है। जब आत्मज्ञान होता है, तब शरीरमेंसे ममत्वबुद्धि दूर होजाती है। ऐसी बुद्धि हुए बाद ज्ञानी अंतरसे भिन्नपने वर्तते हैं। वस्त्रवत् शरीर नष्ट होते आत्मा नष्ट नहीं होता। फिर शरीरपर पहेना हुआ वस्त्र सुर्ख–लाल होते जैसे मनुष्य अपनेको सुर्ख नहीं मानता, वैसे ज्ञानीका शरीर रक्त हो तो उससे वे अपनेको रक्त नहीं मानता! सबब कि, आत्मा कुछ सुर्मा नहीं या स्याह नहीं, कृष्ण (स्याह) वर्णादिकसे आत्म भिन्न है। वास्ते ज्ञानी शरीर परिणमनमें आत्मपरिणति नहीं मानता। जब ज्ञानीकी ऐसी दशा है, तब अज्ञानी शरीरके विकारको अपनी परिणतिकी कल्पना करके दुःखी होता है। और शरीरमें रोग उत्पन्न होते मैं रोगीहूं, शरीर पतला होते मैं

पतला, शरीर स्थूल होते में स्थूल, तथा शरीर दृढ होते में दृढ, ऐसे शरीरकी अवस्थाको ही आत्माकी अवस्था—हालत मानके, राग द्वेषके निमित्त सेवन करके, चोराशी लक्ष जीवा योनिमें परिभ्रमण करता है। अज्ञानी जीव शरीरके धर्मको ही अपने कल्पता है, और उससे अधिक दुनियाके पदार्थोंमें ममत्व बुद्धि कल्पके जैसे मक्खी मधुमें लिपटती है, वैसे संसारके पदार्थोंमें अज्ञानी लिपटजाता है। वास्ते अज्ञानसे आच्छादित ऐसे आत्माका सद्गुरू महाराजके उपदेशसे बोध होता है। उपदेश द्वारा सद्गुरू कहते हैं कि, जीव! तुझे ज्ञात करता हुं, तुं ज्ञात होजा! इस संसारमें तेरा कोइ नहीं है। एकादिन इस अवस्था हालतमेंसे तुझे उठजाना पडेगा। तेरे हातसे संग्रह किये हुए घरबार, दुकानादि रूप बाजी धुल है, और वह धुलमें मिल जायगी, ऐसा निश्चय समज। तेरी नजरसे देखतो सही! हजारों जगतके जीव, धन, दौलत, घरबार, इत्यादि छोडके परभवमें चले जाते हैं, तो वैसीही तेरी अवस्था होनेवाली है। अन्तमें मरणके शरण होना पडेगा। राजा, रंक, जोगी या भोगी, सबके शरीर मिट्टीमें मिल जानेवाले हैं। ये दिखाई देती वस्तु, अखीरमें स्वप्नकी बाजी समान होनेवाली है। ऐसे निश्चय समज। फोगट उसमें क्यों मोहीत होना चाहिये? इस संबंधी नीचे मुजब पद जानना।

पद.

चेतावुं चेती लेजेरे, एकदिन जरूर उठी जावुं ॥
धूळनीरे माया धूळमां भळशे, फोगट मन ललचावुं चे०॥१॥
स्वप्नानी सुखलडी खातां, भूख न मननी भागे ॥
तन धन योवन पामी संतो, हरखावुं शुं रागे ॥ चे० ॥२॥
आशा वेडीए वंधाणो, पर धन खांते खावुं ॥
नीचां कर्म करीने अन्ते, नाहक नरके जावुं ॥ चे० ॥३॥
भुली आतम ज्ञानकी बाजी, मायामां मकलावुं ॥
भ्रमणामां भूलीने भाई, ब्रम्ह स्वरुप केम पावुं ॥चेतावुं.४॥
तारुं ताहरी पासे जाणो, समतामां दिल लावुं ॥
अलख निरंजन आतमज्योति, बुद्धिसागर ध्यावुं ॥चेतावुं.५॥

ये पद आत्माको अपने स्वरूपमें रमण करनेका सूचन करता है, और मायाके प्रपंचसे दूर रहेनेका । फिर प्रत्यक्ष दिखाई देते सांसारिक प्रपंच आत्मासे भिन्न है, उससे त्रिकालमेंभी आत्माका हित होनेवाला नहीं है ! ऐसा निश्चयसे हृदयमें धारना । चलते, बैठते, हरेक कामकाज करतेभी आत्माका स्मरण करके स्व (आत्मा) कार्य साधना। अज्ञानी जीवोंको किसी बडे राजाकी या शेठकी मुलाकात लेनेका निश्चय हो तो कितने आनंदी बन जाते हैं, अपि वे राजा अगर शेठ उससे अनंतगुना बडा शरीरमें रहा हुआ जो आत्मा है, उसके

दर्शन करने, स्तुति करने ध्यान करने, क्या किंचित् मात्र प्रेम लाती है ? नहीं वे लाता नहीं। तो उसका सबब क्या ? उत्तरमें कहना पडेगा कि, वे अज्ञानी जीव वास्तविक अपना आत्मस्वरूप जानता नहीं, वेहि कारण है। यदि अपना स्वरूप जानता हो, और श्रद्धा हुई होती तो अपने आत्माकी श्रेष्ट-वडी शक्ति जान सक्ता। आत्माही राजा होता है, आत्माही पुण्य करनेसे शेठ, बादशाह, देव, देवेन्द्र होता है, और वेही आत्मा पाप करनेसे नीच अवस्था पाताहै, और वेही आत्मा पंच परमेष्ठिरूप बनता है। आत्माकी शक्ति अनंत है। जो शक्ति है वे शक्ति ज्ञानावरणीयादि कर्मोंके योगसे आच्छादितपनेको प्राप्त हुई है। जब आत्मा अपना स्वरूप सद्गुरूके उपदेशसे जानता है, तब उपशमभाव, क्षयोपशमभाव तथा क्षायिक भावको पाके स्वस्वरूप जानता है। सादि अनंत स्थिति सुखमें सदाकाल गवाता है। वास्ते भव्य जीवोंने भेदज्ञानकी प्राप्ति द्वारा परमात्मपदकी प्राप्ति करना।

यस्य सस्पन्द माभाति, निःस्पंदे सर्म जगत् ॥
अप्रज्ञमक्रिया भोगं, स शर्मं मति नेतरः ॥६७॥
जंगम जग थावर परें, जाकूं भासे नित्त ॥
सो चाखे समता सुधा, अवर नहीं जड चित्त ॥५७॥

अर्थः-जिसको सस्पन्द ऐसाभी जगत् निस्पन्द जैसा

अपन्न, अक्रिय अभोग लगता है। वेही महात्मा समतारूप अमृतका आस्वाद लेता है। अन्य जड पुरूष आस्वाद ले सक्ता नहीं।

अनच्छिन् कर्मवैषम्यं, ब्रम्हांशेन समं जगत् ॥
आत्मा भेदेन यःपश्ये, दसौ मोक्षगामी शमी ॥१॥

विवेचनः–सस्पन्द अर्थात् हीलता ऐसा शरीरादिरूप जगत् वे निस्पन्द अर्थात् जड ऐसे जो काष्ट पाषाणादि उनोंके समान जड तथा अक्रिय अभोग माने पदार्थ परिच्छेद-रूप क्रिया, और सुखादि अनुभवरूप भोग जिसको नहीं ऐसा जिसे लगता है, वे पुरूष समताको पाता है। परम वीतरागके वा संसारके भोग तथा देह उपर वैराग्य भावको ऐसा उत्तम पुरूष प्राप्त करता है। मन, वचन और कायाके व्यापारको क्रिया कहते हैं। पंचेंद्रिय द्वारा जो विषयानुभव होता है उसको भोग कहते हैं। ऐसी क्रिया और भोगर-हित स्थिर चित्तवाला आत्मध्यानी अपने स्वरूपमें स्थिर होके, समतारूप अमृतका आस्वादन वारंवार करके जन्म, जरा और मरणके दुःखसे मुक्त होता है। विना पूर्वोक्त द-शाकी प्राप्तिके समतारूप अमृतकी प्राप्ति दुर्लभ है। ऐसी अवस्थाकी जो समता आती है, उससे मोक्षकी प्राप्ति सह-जमें होती है। समता गुणधारी मनुष्य अपने आत्माके समान

सब जीवोंको गिनता है । श्री ज्ञानसारमें कहा है कि:—

ज्ञान ध्यान तप शील, सम्यक्त्व सहितोप्यहो॥
तन्नाप्नोति गुणं साधुर्यमाप्नोति शमन्वितः ॥५॥

अर्थः—कर्मसे बनी हुइ विषमताको नहीं चाहता अपने आत्मसमान चेतना लक्षणको सर्व जगत्को जानता हुआ जो भव्य देखता है, वे शमी जानना । शमी जो गुण पाता है वे ज्ञान, ध्यान, तप, शील और समकित सहित भव्यभी नहीं पासक्ता, और वेही मोक्ष पाता है । फिर समताका स्वरूप वर्णन करते श्रीयशोविजयजी उपाध्याय कहते हैं कि:—

ज्ञान, ध्यान, तप, शील, और सम्यक्त्व सहित भव्यभी जो केवलज्ञानादि गुणको नहीं पाता, वे गुणको समता चारित्रवंत पाता है । क्षयोपशम भावना जो ज्ञानादिक गुण है, वह निरावरण लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञानका परंपरा कारण है, और कषायका अभाव तद्रुप भाव यथाख्यात चारित्रके केवलज्ञानका आसन्न कारण है । यथाख्यात चारित्रमें निर्विकल्प समाधियें अभेद रत्नत्रयीसे परिणमन भया हुआ आत्मा क्षीणमोहावस्थामें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय कर्मका समूल क्षायिक भावसे क्षय करता है, और उससे केवलज्ञान और केवलदर्शन, और दानादिक पांच लब्धि पाता है । इस प्रकारकी समताका अ-

व्य पुरूषने सेवन और अध्यात्म भावनासे सदाकाल आयुष्य सफल करना । शुद्ध आत्मस्वरूपका अनुभव होते शेष जानने योग्य कुछ नहीं रहता । अलबत आत्मस्वरूपका अहर्निश विचार करना, उसका मनन करना कि, जिससे जंगम जगरूप शरीर वहभी थावरके समान माने काष्ट पाषाणवत् स्थिर मालुम हो । इतनी सीमा जब आवे तब संसारमें वादविवादका प्रपंच मिट जाता है, और आत्मा आत्मस्वरूपसे प्रकाशता है । तह संबंधी योगीश्वर महाराजा श्री चिदानंदजी कहते है कि:—

पद.

मति मत एम विचारे, मत मति नयका भाव. मति०
वस्तु गते वस्तु लहारे, वाद विवाद न कोय;
सूर्य तिहां परकाश पियारे, अंधकार नवि होय. मति० १
रूप रेखा तिहां नवि घटेरे, मुद्रा भेष न कोय;
भेदज्ञान दृष्टि करि प्यारे, देखो अंतर जोय. मति० २
तनता मनता वचनता, परपरिणति परिवार;
तन मन वचनातीत प्यारे, निज सत्ता सुखकार. मति० ३
अंतर शुद्ध स्वभावमेंरे, नहीं विभाव लवलेश;
भ्रम आरोपित लक्षधीरे, हंसा सहत कलेश. मति० ४
अंतर गति निहचें गहिरे, कायाथी व्यवहार;
चिदानंद तब पामियेरे, भव सायरको पारः मति० ५

आत्मिक अनुभवके रसीक श्री चिदानंदजी महाराज इस मुताबिक आत्म स्वरूपकी स्थिति बताते हैं। और वे स्वरूपकी प्राप्ति करना भी अपने हाथमें है। जो सिद्ध भगवंत हो गये हैं और होंगे, उनोंने भी जब आत्माभिमुख हो कर आत्मध्यान किया तब ही हुये हैं। आत्माका स्वरूप समजनेकी शक्ति प्राप्त करके, सद्गुरुका संग करके शुद्धात्म स्वरूप प्राप्तिका उद्योग करना। जो वस्तु अपनी नहीं, उसके वास्ते प्राप्ति के रात और दिन उद्योग करनेमें आता है, वहां ठंडी, धुपक, दुःख पातेभी उद्योग किया जाता है, मगर वास्ते आत्मस्वरूपकी प्राप्ति के तो किंचित् मात्रभी उद्योग होता नहीं। आत्मस्वरूप दर्शक सद्गुरूका समागम करनेको समयभी नहीं मिलता, तब आत्मा अपने प्रमादसे ही आप दुःखके हेतु सज, दुःख भाजन बनता है। ऐसा समजना। फिर आश्चर्य कैसा है सो बताते हैं। जैसे जलमें रही हुई मछली प्यासी, वैसे संपूर्ण सामग्री पाकेभी शरीरमें रहा हुआ आत्मा आप अपने स्वरूपसे प्यासा रहता है, अर्थात् अपने स्वरूपकी प्राप्ति करता नहीं, यहभी एक बडा भारी आश्चर्य मालुम होता है। फिर आत्मस्वरूपानु भवरूप अमृतको छोडके, विषयरूप हलाहल जहरका जीव पान करता है, यहभी कैसी आश्चर्यकी बात है? फिर अपनी आत्मिक ऋद्धि चिंतामणि रत्नसमान है उसको फेंक देके, पर ऋद्धिरूप कांचके टुकडेको खुशी होता है,

येभी आश्चर्यकी बात है । परपरिणति और राग द्वेषादिक उसका कुटुंब सत्यरीतिसे देखते आत्माके शत्रु हैं, और वे परपरिणाति तथा उसके कुटुंबसे आत्मा, स्वऋद्धिसे भ्रष्ट हो, पुद्गल रूप भिक्षा मांगके भिखारी बना, तोभी आत्माको पर परिणति वे मेरी वैरीणी है, ऐसा नहीं लगता, और उपर उपरसे बाह्य दृष्टिसे देखते वह अपना सगा कुटुंब हो, ऐसे आत्माको मालुम होता है । अहो ! यहभी आश्चर्य है कि, जो शत्रुवर्ग है, वह भी स्वजन समान लगता है । अहो ! संत पुरूषों ! समजो कि, यह संसारमें आश्चर्यकारक तमाशा हो रहा है । जो उत्तम पुरुष होते हैं, वह परपारिणिति रूप प्रपंचजालको विवेकदृष्टि रूप वज्रसे छेद डालते हैं । उस संबंधी योगीराज श्री चिदानंदजी कहेते हैं कि:—

संतो अचरिज रूप तमासा. संतो० ए आंकणी.
कीडीके पग कुंजर बांध्यो, जलमें मकर पियासा. संतो० १
करत हलाहल पान रूचिधर, तजी अमृतरस खासा;
चिंतामणि तज धरत नित चितमें, काच सकलकी आशा. सं० २
बिन बादर बरषा अति बरसत बिन दिक वहतासया;
वज्र गलत देख्या हम जलमें कोरा रहत पतासा. संतो० ३
बेर अनादि पण उपरसे, देखत लगत सगासा;
चिदानंद ऐसा जन उत्तम, काटत याका पासा. संतो० ४

भावार्थः—समज सके ऐसा है। यदि न समजा जाय तो आत्मानुभवी सद्‌गुरू द्वारा उसका मर्म समजना। श्री चिदानंदजी महाराजने आत्मानुभवका खोज करते इस मुताबिक गाया है। उससे आत्मार्थी पुरूषने स्याद्वादपने वास्ते आत्मज्ञान श्रवण और मननका प्रयत्न करना। ज्ञानीने जितनी धर्मकी क्रियाएं, आचरणाएं, बताई है वे वास्ते एक आत्मस्वरुपकी प्राप्तिके ही बताई है। सबब कि, अनंत सुख देनेवाला शाश्वतधर्म आत्मामें रहता है। वास्ते आत्मा धर्मी कहलाता है। व्यवहार और निश्चयनयर्मा आत्मिक धर्मके स्वरूपको वर्णन करते है। वास्ते भव्य जीवों! यदि तुम्हें मोक्षकी जिज्ञासा हो तो सांसारिक पदार्थोमेंसे मोह उतारके, और भोगको रोग समान गिनके वैसेही स्वप्न समान कुटुंबी वर्ग जानके, शुद्ध धर्मका सेवन करो। यही सत्य तत्त्व समजो, यही अखीरमें सुख देनेवाला है। वैसे वीतरागके वचनसे प्रतीति लाके, आत्माकी शुद्ध स्थिति प्राप्त करो। जिसने आत्माका शुद्ध स्वरूप पाया है वह ओरको नहीं कह सक्ता। जैसे निमककी पुतली समुद्रका थाग लेने जलमें गिरी, मगर निमककी पुतली आप ही जलरूप हो गई तो वे बहार आके दूसरेको अपनी स्थिति कैसे कह सकेगी? वैसे ही जिनोंने परमात्म स्वरूपके ध्यानमें प्रवेश किया वेभी परमात्म स्वरूप होगये। वो परमात्म स्वरूपका कौन वर्णन कर सक्ता है?

अव्यक्त कोई वर्णन कर सकताही नहीं। ऐसी परमात्म स्वरूपकी स्थिति है और यही सत्य है। उसके बारेमें श्रीचिदानंदजी अपना अनुभव कहते है।

पद.

अब हम ऐसी मनमें जाणी, परमारथ पथ समज विना नर;
वेद पुराण कहाणी. अब० १
अंतर लक्ष विगत उपरसें, कष्ट करत बहु प्राणी;
कोटी जतन करि तूप लहत नहीं, मथतें निशदिन पानी. अ० २
लवण पूतली थाह लेणकूं, सायरमांहि समाणी;
तामें लीन तद्रूप भई ते, पलट कहे कुण वाणी. अब० ३
खट मत मिल मातंग अंग लख, युक्ति बहुत वखाणी;
चिदानंद सरवंग विलोकी, तत्त्वारथ ल्यो ताणी. अब० ४

इस मुताबिक चिदानंदजी महाराज प्ररूपते हैं–कहते हैं और तत्वमार्गभी येही है। वास्ते आत्मार्थी जीवोंने आत्मस्वरुपमें मन, बचन और काया की एकाग्रवृत्तिसे स्थिरता करना कि जिससे आत्मा शम सुखोदधिमय वन जावे!

शरीर कंचुकेनात्मा, सवृत ज्ञान विग्रह ॥
नात्मानं बुध्यते तस्माद्, भ्रमत्यति चिरंभवे ॥६८॥

अर्थः–ज्ञान है शरीर वे जिसका ऐसा आत्मा जो वे शरीर रुप कंचुकसे ढका गया है। और उसंसे आत्माको

जानता नहीं । अतः एव वह चिरकाल-बहुतकाल भवमें परिभ्रण करता है।

विवेचनः-शरीर वे ही कंचुक, उससे ढका गया है ज्ञान-रुपी शरीर वे जिसका, ऐसा आत्मा हो गया है । वैसे प्रकारके मूढात्माको आत्मज्ञान होता नहीं । है यहां आवरण करनेवाला सामान्यतः कार्मण शरीर समजना । क्यों कि, वेही मुख्य वृत्तिसे उसके आवरणरुप हो सक्ता है । पूर्वोक्त प्रकारका बहिरात्मा अपने शुद्ध स्वरुपको न जाननेसे, बहुत वक्त तक संसारमें परिभ्रमण करता है । जहांतक बहिरात्मा बुद्धि है वहांतक सब तरहका विद्याभ्यासभी परिभ्रमण संसार हेतु है । सबब कि, सिवाय तत्त्वको तत्त्व स्वरुप जाननेके संसारका पार नहीं आता । सर्व प्रकारके शास्त्र पढो, अनेक प्रकारके वाद विवाद करो, अपनी बुद्धिके प्रकाशसे खंडन मंडन करो, कुतर्क करके आत्माको भ्रम जालमें डालो; मगर उससे आत्माका कुछ हित होनेवाला नहीं है । वैसे ही उपर उपरसे शास्त्राभ्यास करके शुक समान पंडिताइ धारण करके मनमें गर्व करनेसे आत्मानुभव प्रगट होनेवाला नहीं है । श्री योगीश्वर चिदानंदजी महाराज कहते हैं किः-

जोलों अनुभव ज्ञानरे, घटमांह प्रगट थयो नहीं. जोलों०
तोलों मन स्थिर होत नहीं छिन, ज्यों पींपळका पान;
वेद भण्यो पण भेद विना शठ पोथी थोथी जाणरे जोलों० १-

रस भाजनमें रहत द्रवीनित, नहीं तस रस पहिचान;
तिम शुक पाठि पंडितकुं पण, प्रवचन कहत अज्ञानरे. जोलों० २
सार लह्या विन भार कह्यो श्रुत, खर द्रष्टांत समान;
चिदानंद अध्यातम शैली, समज परत एक तानरे जोलों० ३

श्री चिदानंद कपूरचंद्रजी महाराज कहते हैं कि, श्रुत ज्ञानका बहुत अभ्यास किया, अनेक प्रकारकी भाषाओंका अध्ययन किया. मगर श्रुतज्ञानका सार जो आत्मानुभव तथा संवर भावकी प्राप्ति न हुई तो, गद्धे समान जानना । गद्धेकी पीठपर चंदनका बोझ लदा हो, मगर उसको उपयोगीभूत नहीं है , वैसा यहां समज लेना । वैसे पठित मूर्ख बकवाद करनेवाले, मनुष्यभी आत्मस्वरुपके तरफ मुड सक्ते नहीं है । और बहिरात्मभावमें मान, पूजा—प्रतिष्टाकी लालचसे अन्यमें चित्त रखके, स्वस्वरुपसे भ्रष्ट होते हैं । तथा फिर अज्ञानी जीवको मोहज्वरके योगसे आत्मज्ञान रुप मिष्ट भोजनपर रुचि नहीं होती। श्री यशोविजयजी उपाध्याय कहते हैं कि:—

करे मूढमति पुरुषको, श्रुतभि मदभय रोष ॥
ज्युं रोगी कुं खीर घृत, सन्निपात को पोष ॥१॥

जैसे रोगीको खीर घृतभी सन्निपातकी पुष्टिके वास्ते होते हैं, वैसे आत्मस्वरूपसे अनजान बहिरात्माको, श्रुतज्ञानभी वास्ते अहंकार भय और रागादिके उत्पत्तिके वास्ते



बाल्यब्रह्मचारी शान्तमूर्ति मुनिराज श्री जयविजयजी महाराज।

'जैन विजय' प्रेस-सूरत

हे ज्ञानीको श्रुतज्ञान आत्म गुणकी प्राप्ति के लीये है अवाच्य आत्मस्वरुपका तत्त्वको अज्ञानी समझ नहि सक्ता अनुभव ज्ञानीहि जाण शक्ता है जो महात्माने आत्मस्वरूपका अनुभव किया है वही स्व स्वरूपका निश्चय करके आनंद में लीन रहता है व्यवहार सें शुद्धवर्तनसें उचाधिका स्थानोको छोडकर अन्तरसें शुद्धात्मस्वरूप में रमकर आत्मगुणोकुं प्रगट करता है चित्त समाधिद्वारा पूर्णपद प्रगट करता है वही स्वरूपकुं श्री चिदानंदजी महाराज दिखातें है.

पद.

अलख लख्या किम जावे हो एसी कोइ युगति बतावे. अलख.
तनमनवचनातीत ध्यानधर, अजपा जाप जपावे;
होय अडोल लोलता त्यागी, ज्ञान सरोवर न्हावे हो. एसी. १
शुद्धस्वरूपें शक्ति संभारे, ममता दूर वहावे,
कनक उपल मल भिन्नताकाजे जोगानल उपजावे हो. एसी. २
एकसमे सम श्रेणि आरोपी, चिदानंद इम गावे;
अलखरूप होय अलख समावे, अलखभद इम पावेहो. एसी. ३

इम तरह अजपा जापसें जोध्यान करते है और मन वचन कायसें भिन्न आतमा जानकर कायममत्व छोडकर स्व शक्तिका स्मरण कर के स्व स्वरूपमें रमतें है एसे योगीश्वर महात्मा..

स्व स्वरुपकी प्राप्ति करते है और अनंत अविनाशी आत्यंतिक सुखकुं भोगनेवाला होता है.

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ॥
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥६९॥

अर्थः—बुद्धिहीन बहिरात्माओ प्रवेश और निर्गमन करता परमाणु, ओंकासमूहरूप और समानाकार देहकुं स्थिति-भ्रांतिसें आत्मा इस्तरे मानते है.

विवेचन—भेद बुद्धिसें रहित जीवो शटन—पतन—विध्वंसन स्वभाववाला और प्रवेश निर्गमन करता ऐसा परमाणुका समूह रूप शरीरकुं आत्मा है इस्तरह स्थितिभ्रान्तिसें मान लेते है आत्मा और शरीरका अभेद अध्यवसायरूप भ्रान्ति ऐसा द्रढ प्रत्यय (निश्चय) अज्ञानी जीवकुं होता है वह देह को हि आत्मा अंगीकार करता है और उसी कारणसें वह देह के उपर ममत्व रखता है और स्वतत्वका भान भूल जाता है ऐसा अज्ञानी जीव चतुर्गतिरूप संसारमें परिभ्रमण करता है बहिरात्मा प्राणी अज्ञानतासें आश्रवके हेतुओंकुं राचमाचकर सेवन करता है और अंतमें स्वजीवन निष्फल व्यतीत कर नृजन्म हार जाता है.

गौरः स्थूलः कृशो वाहमित्यङ्गेनांविशेषयन् ॥
आत्मानंधारयेन्नित्यं केवलं ज्ञप्तिविग्रहम्. ॥७०॥

अर्थः–में गौरा (श्वेत) स्थूल कृश हुं एसा जोहोता है उस्कु आत्मामें नहि आरोपण कर केवलज्ञानविग्रह एसा आत्माकी धारणा करनी.

विवेचन–में गोरा–में स्थूल (जाडा) में दुर्बल–में बलवान इत्यादि जो जो प्रत्यय शरीरमें हो, उसको आत्माके विशेषण रूप नहीं मानना। और बाह्य उपाधिसे रहित सीर्फ आत्माकी धारणा करनी। विशेषतः चित्तमें उसकाही ध्यान करना। जिसका केवलज्ञान स्वरूप है, अर्थात् ज्ञान शरीरवाला आत्मा धारना। अनेक प्रकारके काम करतेभी अंतरसे सतत् वैसेही धारणा रखनी। ऐसी धारणा रखनेसे भेद ज्ञानकी दृढता होती है, और वैसी दृढताकी वृद्धि होनेसे राग द्वेषकी परिणति स्वयमेव मंद पड़ती है। अंतरमें आनंद प्रगट होता है।

मुक्ति रेकान्तिकी तस्य, चित्ते यस्याचला धृतिः॥
तस्य नैकान्तिकी मुक्ति, यस्य नास्त्यचलाधृतिः॥७१॥
मुगति दूर नाकूं नहीं, जाकूं थिर संतोष ॥
दूर मुगति ताकूं सदा, जाकूं अविरति पोष॥५८॥

अर्थः—जिसके चित्तमें अचल धृति है उसको एकान्तिक मुक्ति है और जिसके चित्तमें अचल धृति नहि उसको एकान्तिक मुक्ति नहीं होती ।

विवेचनः—जिसके चित्तमें अचल आत्म स्वरूपकी धारणा है, वह अन्तरात्माको अवश्य—जरूर होनेवाली मुक्ति होती है । और जिसको पूर्वोक्त प्रकारकी अचल धारणा नहीं है, उसकी जरूर मुक्ति नहीं होती । जिसके अंतःकरणमें संतोषने स्थिरता भावसे निवास किया है वैसे जनोंको मुक्ति पास है । जिसको अविरतिकी पुष्टी होती है उसको मुक्ति दूर है । वास्ते वारवार संतोषका सेवन करना । सर्व वस्तु संबंधी तृष्णाका त्याग करके संतोष धारण करना । जहांतक संतोष प्रगट हुआ नहीं, वहांतक तात्त्विक सुख नहीं है । संतोष से तात्त्विक सुख सहज प्रगट होता है । दुनियामें सीर्फ संतोषको धारण करनेवाले एक मुनिराजही सुखी हैं । शेष ममता तृष्णासे पीड़ित जीव राजा वा चक्रवति, इंद्र नागेंद्र होय तोभी वह सुखी नहीं है ।

जनेभ्यो वाक् कृतः स्पन्दो, मनसश्चित्र विभ्रमाः ॥
भवन्ति तस्मात्संसर्गं, जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥
होत वचन मन चपळता, जनके संग निमित्त ॥
जनसंगी होवै नहीं, ताते मुनि जग मित्त ॥५९॥

अर्थः—मनुष्यके संसर्गसे वाणीकी प्रवृत्ति होती है, और उससे मनकी चपळता होती है, और उससे चित्त विभ्रम होता है। वास्ते योगीने मनुष्योंका संसर्ग त्याग करना।

विवेचनः—मनुष्योंमें मिलनेसे आपसमें बोलनेका होता है, और उससे मनकी व्यग्रता होती है। मनकी व्यग्रतासे चित्त विभ्रम होता है। अनेक प्रकारके विकल्पोंकी प्रवृत्ति होती है, ऐसे वर्तन होता है। वास्ते योगिने मनुष्यका संसर्ग त्यागना। जो योगी मनुष्योंके संसर्गमें आता है, वह मायाके प्रपंचोंमें फंसता है, और मायाके प्रपंचमें फँसनेसे रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है, और रागद्वेष भवभ्रमणाका मूळ है। वास्ते मनुष्यका संसर्ग तजना। जो मुनिराज मनुष्य संसर्ग रहित है, वह मुनि जगत्के मित्र है, और वह मुनि आत्महित साध सक्ते हैं। प्रायः बहुत करके मनुष्यके संसर्गसे उपाधिकी प्राप्ति होती है। वास्ते मुनिराज मनुष्योंका संसर्ग त्यागके एकान्तमें वसते है। विना सबबके विशेष प्रकारसे किसीके साथ ज्यादह भाषणभी नहीं करते। जो मनुष्योंके परिचयसे आत्माका हित नहीं तो उनोंका परिचय कैसे करें? व्याख्यान, भिक्षादिके सबबसे मनुष्यके संसर्गमें आवें तोभी अंतरसे अलग वर्तते हैं। ऐसे मुनिराज उपाधि रहित होके अनुपम आत्मानंदके भोक्ता बनते हैं। आत्मज्ञानसे ऐसा विवेक प्रगट होता है।

आत्मज्ञानी आत्मज्ञानमेंही स्वसुख मानके, मनुष्य संसर्ग त्यागते हैं। आत्मज्ञानीकी वलिहारी है कि, जिससे मनुष्य स्वकार्य साधता है। श्री चिदानंदजी महाराजभी ज्ञानका महात्म्य कहते है। यथाः—

॥ पद ॥

ज्ञानकला घट भासी जाकुं ॥ ज्ञान० ॥
तनधन नेह नहीं है जाकुं, छिनमें भयो उदासी ॥ जाकुं ॥ १ ॥
हुं अविनाशी भाव जगतके, निश्चये सकल विनाशी ॥
एहवी धारणा धार गुरूगम, अनुभव मारग प्यासी॥ जाकुं ॥ २ ॥
में मेरा ए यह मोह जनित जस, ऐसी वुद्धि प्रकाशी ॥
ते निशंक पग मोह शीस दे, निहचे शिवपुर जासी॥ जाकुं॥ ३ ॥
सुमता भई सुखी एम सुणके, कुमता भई उदासी ॥
चिदानंद आनंद भयो इम, तोर करमकी फांसी ॥ जाकुं॥ ४ ॥

ज्ञानका सामर्थ्य अनुपम है, यदि किसि आत्मार्थी जीवको आत्मज्ञानकी इच्छा हो उसने सद्गुरु समागम करना। नित्यानित्य पक्षसे आत्मस्वरूप जानना। जैसे हो सके वैसे मनुष्य संसर्गमें न आना येही निरूपाधि पद प्राप्त करनेका हेतु है।

ग्रामोऽरण्य मिति द्वेधा, निवासोऽनात्म दर्शिनाम्॥
दृष्टात्मनां निवासस्तु, विविक्ता त्मैव निश्चलः॥७३॥
वास नगर वनके विषै, मानै दुविध अबुद्ध ॥
आतम दरशीकुं वसति, केवल आतम शुद्ध॥६०॥

गाम अथवा अरण्य ये दोनोंको तो अज्ञानी अपने निवास मानता है। अर्थात् अज्ञानी विना पहिचाने जड वस्तुमें अपना निवास स्थान मानता है। वनमें रहते अपने आपको वनवासी कल्पना है नगरमें रहते नगरवासी कल्पता है। अर्थात् नगर छोडके वनवासी बनता है, मगर क्या छोडना चाहिये ? और कौनसा स्थान प्राप्त करना चाहिये? उसकी अज्ञानीको मालुम पडती नहीं। जब अज्ञानीकी एसी हालत है, तब ज्ञानीकी हालत कैसी होती है सो बताते है।

ज्ञानी गांवमें या वनमें भरना निवास नहीं कलते सबब-कि, गाव या वन यह कोई आत्माका स्थान नहीं। वैसेही शरीररूपी आत्माका सत्य रहनेका स्थान नहीं, तब आत्मा रहता है कहां। सो बताते हैं। आत्माके असंख्यात प्रदेश हैं, ये असंख्यात प्रदेश अरूपी है, अज है, अविनाशी है, एक २ प्रदेशमें अनंत ज्ञान दर्शन चारित्र रहा है। असंख्यात प्रदेश मिलके ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग प्रगट होना है फिर शुद्ध

पर परिणति परसंगसूं, उपजत विनसत जीव ॥
मेटयां मोह प्रभावकुं, अचल अबाधित जीव ॥८३॥

आत्मा आत्माके स्वरुपमेंही मग्न रहे तब ममता मैलका नाश करता है। यदि हमेशा समभाव रसमें राचके रहे तो संसारमें बंधा जाता नहीं। पर परिणतिके प्रसंगसे जीव संसारमें उत्पन्न होता है, और विनाशको प्राप्त होता है, और मोह प्रभावके नाशसे, अमल और विना बाधाका जीव होता है। फिर चिदानंदजी महाराज कहते हैं किः—

विनाशिक पुद्गल दशा, अविनाशी तुं आप ॥
आपोआप विचारतां, मिटे पुण्य अरु पाप ॥ ८९ ॥
पंचम गति विण जीव कुं, सुख तिहु लोक मुझार ॥
चिदानंद नवि जाणज्यो, ए मोटो निरधार ॥ ९२ ॥
इम विचार हिरदे करत, ज्ञान ध्यान रस लीन ॥
निराविल्प रस अनुभवे, विकल्पता होय छीन ॥ ९३ ॥
निराविकल्प उपयोगमें, होय समाधि रुप ॥
अचल ज्योत झलके तिहां, पावे दरस अनुप ॥ ९४ ॥
देख दरस अद्भुत महा, काल त्रास मिट जाय ॥
ज्ञान जोग उत्तम दशा, सद्गुरु, दियो बताय ॥ ९५ ॥

पुद्गल दशा विनाशी है, और आत्मा तो अविनाशी है। आत्माका स्वरुप आत्मा विचारे तो पुण्य और पाप रुप कर्म

दूर होत है । श्री चिदानंजी महाराज कहते है कि, यह बडे निश्चयसे जानो कि, विना पंचम गतिके तीनो लोकोंमें किंचित मात्र सुख नही है । एसा सत्य निर्धारके जो भव्य ज्ञान ध्यान रुप रसमें लीन हो जाता है, उसको निर्विकल्प रसका अनुभव होता है, और निर्विकल्प रस के अनुभवसे करके विकल्पताका नाश होता है । जब निर्विकल्प रसपे आत्मा रमण करता है तब वे समाधि रूप बनता है, और वैसी समाधिमे आत्माकी अचल ज्योति झलकती है और अनुपम दर्शन प्राप्त होता है, और अद्भुत आत्म दर्शनसे काल (मृत्यु) का खेद मिट जाता है । ऐसी ज्ञान योगकी उत्तम स्थिति सद्गुरूने बताई है । ऐसी आत्मदशामें आत्म भावना धारण करके ज्ञानी जन परमात्मपद पाते है । यही कर्त्तव्य है।

नयत्यात्मानमात्मैव, जन्म निर्वाणमेव वा ॥
गुरुरात्माऽत्मनस्तस्मात्, नान्योऽस्ति परमार्थतः ।७५।
भवि शिवपद दे आपकूं आपही सन्मुख होइ ॥
तातें गुरु है आतमा, आपनो और न कोई।।६२।।

अर्थ—आत्माको आत्माही जन्म और निर्वाण तरफ ले जाता है । वास्ते आत्माही आत्माका परमार्थसे गुरू है, और अन्य कोइ नहीं ।

विवेचन—शरीरादिकमें द्रढात्म भावनासे आत्माही अपने आपको संसारमें डालता है, और आत्माही अपने उपर आत्मबुद्धि स्थिर करके अपने आपको मोक्षमें ले जाता है। वास्ते निश्चयसे देखते आत्माही आत्माका गुरू है, दुसरा कोई नहीं। फिर व्यवहार गुरू होतो हर्ज नहीं निश्चयसे देखते अपना आत्मा वेही देव है, और वेही गुरू है, आत्माका स्वभाव वेही निश्चयसे धर्म है, ऐसी शुद्ध श्रद्धा वे मोक्षका कारण है। क्योंकि, विना जीवस्वरूपपाहिचाने कर्म क्षय नहीं होता, आत्मा अपने सन्मुख होतेही आपही अपने आपको शिव (मोक्ष) पद देता है। आत्मा विना अपने सन्मुख हुए, तीन कालमें मुक्ति होती नही, जो तीर्थंकर हूए, सिद्ध हुए, वे सव सन्मुख हुए तवही स्वकार्य सिद्ध कियाहै। किसीको वंवई जाना हो और मारवाड़ तरफ जावे तो वम्बई पहुचता नहीं। वैसे जो शिव (मोक्ष) पदकी प्राप्तिके वास्ते प्रयत्न करता है, और आत्माके सन्मुख नही हुआ तो वह शिवपद प्राप्त नही करता. जो भव्यजन आत्माके सामने होके सोनेकुं मिट्टिके डल्ले समान गिनते. हैं, और राज्यगादी को तुच्छपद समान जानते हैं, स्नेहको कैद समान मानते हैं, वड़ाईको दुःखका घर जानते हैं, सिद्धि वगेरह ऐश्वयको अशाता (दुःखदाता) समान जानते हैं, औदारिकादि कायाको, कीड़ोंसे भरपूर कादव समान जानते हैं, गृहस्थावासको

कारागृह (के दखना) समान अंतःकरणसे गिनते हैं; कीर्तिकी इच्छाको बंध समान गिनते हैं, वह आत्मार्थी महापुरुष आत्माभिमुख होके, परमपद प्रगट करते हैं।

दृढात्मबुद्धिर्देहादा, वुत्पश्यन्नाशमात्मनः ॥
मित्रादिभिर्वियोगंच, बिभेति मरणाद् भृशम्॥७६॥

अर्थः–देहादिकमें आत्मद्धिवाला, मृत्यु पास देखके, तथा मित्रादिका वियोग पास देखके मृत्युसे बहुत भय पाता है।

विवेचनः–देहादिकमें दृढ हुई है आत्मबुद्धि जिसको ऐसा बहिरात्मा प्राणवियोग रूप मरण तथा रिश्तेदार, मित्र, पुत्र, स्त्री, आदिका वियोग, येदोनों बातें पास देखतेही मरणसे बहुत डरता है, अनेक प्रकारकी चिंता करता है। मोहमायामें गभराता है और बहुत भय पाता है, और उसको परभव मेंभी बहुत दुःख देखने पड़ते हैं। जिसको आत्मामेंही आत्मबुद्धि है, वे मृत्यु सामने आते क्या करता है? सो कहते हैं।

आत्मान्येवात्मधीरन्यां, शरीरगतिमात्मनः ॥
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा, वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम्॥७७॥

अर्थः–आत्मामेंही आत्म बुद्धिवाला शरीरगतिको निर्भय रहके अलग देखता है। जैसे एक वस्त्र छोड़कर दूसरा वस्त्र ग्रहण करे, वैसे।

विवेचनः—आत्मामेंही आत्मबुद्धि है ऐसा अन्तरात्मा शरीरगति माने शरीरपरिणति अथवा शरीरविनाश अथवा बाल्यावस्था, उनोंको आत्मासें अलग मानता है। और जानता है कि, शरीरका पैदा होना, नाश होना इत्यादिसें आत्माको कुछ नहीं, हर्ष शोक धारण करता नहीं। ऐसा ज्ञान उसकोही होता है कि, जो व्यवहारमें अनादर रखता है। मगर जो व्यवहारमें आदर रखता है उसको वैसे होता नहीं।

व्यवहारे सुषुप्तोयः, स जागर्त्यात्मगोचरे ॥
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन्, सुषुप्तश्चात्म गोचरे ॥७८॥
सोवत है निज भावमें, जागै जे व्यवहार ॥
सूतो आतम भावमें, सदा स्वरूप आधार ॥८३॥

अर्थः—जो व्यवहारमें सोया है, वह आत्मदर्शनमें जागृत है; जो इस व्यवहारमें जागृत है वह आत्मादर्शनमें सोया है।

विवेचनः—व्यवहार माने मनमें—चित्तमें उत्पन्न होते हुए अनेक प्रकारके संकल्प और विकल्पके स्थान रूप, अर्थात् संसारमें इष्टमें प्रवृत्ति और अनिष्टमें निवृत्ति, जो अपने नामको अच्छा लगे वहांसे निवृत्ति करना। फिर यह मेरा, और यह अन्य, ऐसो जहां बुद्धि है, ऐसे व्यवहार रूपही संसारमें जो

सोता है, अर्थात् सर्व व्यवहारकी कल्पना जालको जिसने विस्मृत कर दी है, वह भव्य आत्मदर्शनमें जागृत है। अथात् वेही आत्म संवेदन स्वरूप पाता है। और जो कथित प्रकारके व्यवहारमें जागता है, अर्थात् मैं और मेरा ऐसा अभ्यास धारण करता है, देहादिकमें ममत्व बुद्धि धारण करता है, मोह मायामें छिन छिनमें लिपटता है, विकल्प और संकल्प रुप प्रवृत्ति किया करता है, ऐसा जीव व्यवहारमें एटले संसारमें जागता है, और उससे आत्म दर्शनमें सोता है। अर्थात् आत्मस्वरुपके उपयोगसे शून्य वर्तता है, और वे आत्मज्ञान पाता नही।

आत्मान मन्तरे दृष्ट्वा, दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ॥
तयोरन्तर विज्ञानात्, अभ्यासादच्युतो भवेत्॥७९॥
अन्तर चेतन देखीके, बाहिर देह स्वभाव ॥
ताको अंतर ज्ञानते, होइ अचल दृढ भाव ॥६४॥

अर्थ—आत्माको अंतरमें देखके और शरीरादिकको बाह्य देखके, उनोके अंतरके ज्ञानसे तथा अभ्याससे आत्मा मुक्त होता है।

विवेचन—असंख्य प्रदेश स्वरुपी आत्माको अंतरमें माने देहमे व्यापक देखके और देहादिकको बाह्य मानके, शरीर

और आत्माका अंतर समजना । ऐसा भेद ज्ञान होते, अच्युत हो, एकेले भेद ज्ञानसे अच्युत हो, ऐसे नही मगर भेद ज्ञानके अभ्याससे तथा पुनः पुनः आत्मभावनासे मुक्तिपद मिलता है । भेद ज्ञानकी भावना भावते हुए महोपाध्याय श्रीयशो-विजयजी गाते है किः—

चेतन अब मोहे दर्शन दीजे, तुम दर्शन शिवसुख पामीजे ॥
तुम दर्शन भव छीजे ॥ चेतन ॥ १ ॥
तुम कारण तप संजम किरीया, कहो कहांलो कीजे ॥
तुम दर्शन विन या सब जूठी, अंतर चित्त न भीजे ॥चेतन॥२॥
क्रिया मुढमति है जनके, ज्ञान ओरकुं प्यारो ।
मिलत भाव रस दोउन चाखे, तुं दोनुथी न्यारो ॥चेतन॥३॥
सबमे है और सबसें नहीं, तुं नटरूप अकेलो ॥
आप स्वभावे विभावे रमतो, तुंही गुरू तुंही चेलो ॥चेतन॥४॥
अकल अलख प्रभु तुं सवरूपी, तुं अपनी गति जाने ॥
अगमरूप आगम अनुसारे, सेवक सुजस प्रमाने ॥चेतन॥५॥

अहो ! इस पदमें कैसी भेद ज्ञानसे आत्मभावना भाइ है ! वह महापुरूष कहते है कि, हे चेतन ! तेरे विना तप, संयमादि क्रियाभी जुठ है । तुं आत्मा जब उपयोग भावमें वर्तता है, तब संयमादिककी सफलता है । फिर कहते है कि, तेरे सिवा और में चित्त भीजता नहीं । हे चेतन ! तुं अकल

है, वैसे तुं अलख है । हे चेतन ! तेरी गति तुं आप ही जानता हे, इस पदका संपूर्ण भावार्थ लिखते ग्रंथ गौरव वढ़जाय । वास्ते जहां टीका करके कहनेका है सो कहेंगे, पदका अर्थ सुगम हे । ऐसा अध्यात्मकी हालतका पद श्री यशोविजयजी गाके भेद ज्ञानकी पुष्टी करते हैं । फिर वहुत हर्षमें आके आत्माका एकाग्रचित्तवृत्तिसे ध्यान करके आत्मा संवंधीका पद गाते हैं ।

अवमें साचो साहिव पायो, याकी सेवा करत हुं याको ॥
मुज मन प्रेम सहायो ॥ अवमें ॥१॥
चाकुं और न होवे अपनो, जो दीजे घर मायो ॥
संपति अपनी क्षणमें देवे, वयतो दिलमें ध्यायो ॥ अवमें ॥२॥
ओरनकी जन करत है चाकरी, दुर देश पाउ घासे ॥
अंतरजामी ध्याने दीसे, वयतो अपने पासे ॥ अवमें ॥ ३ ॥
और कवहु कोई कारण कोप्यो, वहुत उपाय न तुसे ॥
चिदानंदमें मगन रहतुं है, वेतो कव हुन रुसे ॥ अवमें ॥ ४ ॥
ओरनकी चिंता चित्ते न मिटे, सव दिन धंधे जावे ॥
थिरता सुख पूरण गुण खेले, वयतो अपने भावे ॥ अवमें ॥५॥
पराधीन है भोग ओरको, याते होत विजोगी ॥
सदासिद्ध समसुख विलासी, वयतो निज गुणं भोगी ॥ अवमें ॥६॥
ज्युं जानो त्युं जग जन जानो, मैंतो सेवक उनको ॥
पक्षपाततो परसुं होवे, राग धरत हुं गुनको ॥ अवमें ॥७॥

भाव एकही सब ज्ञानीको, मूरख भेद न भावे ॥
अपनो साहिब जो पिच्छाने, सो जसलीला पावे ॥अबमें॥८॥

उपाध्यायजी कहते हैं कि, अब ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुणयुक्त आतमारूप सत्य साहिब पाया, और उसकी बंदगी करते मेरे मनमें प्रेम सुहाता है। वगेरह आतम स्वरूपकी हालतके उद्‌गार इस पदमें निकाले है। जिसका वर्णन करें उतना थोड़ा है। जगत जनको जेसे जानना हो वैसे जाने मैंतो आत्माका सेवक हुं। परपुद्गलसे पक्षपात हो मगर आत्माके स्वरूपमें पक्षपात नहीं होता। उसको तो सम धारण करता हुं, सर्व ज्ञानीका एक भाव है, मूर्ख अर्थका भेद पाता नहीं। असंख्य प्रदेशी ज्ञानादि गुणमय आतमारूप साहिबको जो जानता है, वेही तीन भुवनमें कर्मोंका पराजय करके, जसलीलापाता है, ऐसे उपाध्यायजी कहते हैं। आपके गानेवाले उपाध्यायजीका भेद ज्ञान तथा भावनाकी उच्च हालत कैसी होगी सो वाचक विचारेंगे। श्री आनंदघनजी महाराजभी आत्मदाशाको गाते हैं। वास्ते आत्मार्थी जीवनेभी ऐसी भेदज्ञान बुद्धिसे सतत आतम भावना भाके भवीष्यमें अंतरका आनंद भोगना।

पूर्वं दृष्टात्म तत्त्वस्य, विभात्युन्मत्तवज्जगत्॥
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात्, काष्ठ पाषणरूपवत्॥८०॥

भासै आतमज्ञान धुरि, जग उन्मत्त समान ॥
आगे दृढ अभ्यासतें, पत्थर तृण अनुमान ॥६५॥

अर्थः-प्रारब्ध योगीको प्रथम उन्मत्तवत् जगत् मालुम होता है, और पीछेसे भली प्रकार आत्माभ्यास होते काष्ट पापाण समान मालुम होता है ।

विवेचनः-प्रथम दृष्ट है आतमतत्त्व जिसको, अर्थात् जिसको शरीरसे आत्मा भिन्न है, ऐसा प्रथम ज्ञान हुआ है, और जिसने योगका आरंभ किया है, उसको पागल आदमीके समान जगत् लगता है । तात्पर्य ये हैं कि, स्वरूप चिंतवन विकल होनेसे, यह जगत् अनेक बाह्य विकल्प युक्त उन्मत्त जैसा मालुम होता है । पीछेसे अर्थात् आगेपर ध्यानकी परिपक-पूर्ण हालतसे जगत्की कोइभी चिंता न रहनेसें वह सीर्फ काष्ट पापाण--लकड पत्थरके समान लगता है । ऐसी परम उदासीनता भावसे होती है । आत्माभ्यास ऐसा इस श्लोकमें कहा, उसकी क्या आवश्यकता है । आत्मा भिन्न है ऐसा वे जाननेवालेके पाससे सुनते मुक्ति हो सक्ती है । ऐसी जो शंका होती है, वास्ते उसके समाधानके कहते हैं ।

श्रृण्वन्नप्यन्यतः कामं, वदन्नपि कलेवरात् ॥
नात्मानं भावयेद्भिन्नं, यावत्तावन्न मोक्षभाक् ॥८१॥

अर्थः—अन्यके पाससे आत्म तत्त्व स्वरूप बहुत श्रवण करते हुए, बोलते हुएभी जहांतक आत्माको देहसे भिन्नरूप भावनासे जानता नहीं वहांतक मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

विवेचनः—अन्य पाससे, माने गुरु, उपाध्याय पाससे आत्मा देहसे भिन्न है, ऐसा सुनते हुए तथा औरको उस मुताबिक उपदेश देते हुएभी जहांतक आत्मामेंही स्वस्वरूपकी दृढ भावना की नहीं, वहांतक मोक्ष नहीं पा सक्ता श्री आत्म-प्रकाश ग्रंथमें कहा है किः—

कथनी कथतां शुं थयुं, जो नहीं तत्त्व पमाय ॥
रखतुं रहेणी आत्मनी, थावे चिन्मय राय ॥१॥
आत्मिक शुद्ध स्वभावना उपयोगे छे धर्म ॥
समज २ भव्यातमा, जेथी नासे कर्म ॥२॥

आत्म ज्ञान श्रवण करके उस मुताबिक ध्यान करना। जब आत्मध्यान करनेमें आता है, तब सहज शुद्ध आत्मा और सत्यानंद प्रगट होता है। वास्ते एक श्वासोश्वासभी विना आत्मध्यानके न जाने देना चाहिये। श्री चिदानंदजी कहते हैं किः—

चिदानंद नित कीजिये, सुमरन श्वासोश्वास ॥
वृथा अमूल्य जात है, श्वास खबर नहीं तास ॥ १ ॥

एक श्वासोश्वासभी अमूल्य है, वे व्यर्थ न जाने देना चा-

दिये। आत्म स्वरूप जानके उस मुताबिक आत्मध्यानमें प्रवर्तना, शुष्क ज्ञानसे आत्मज्ञान नहीं होता। वास्ते आत्मध्यानसे स्वरूपकी दृढ भावना करती।

तथैव भावये देहाद्, व्यावृत्यात्मा न मात्मनि ॥
यथान पुनरात्मानं, देहे स्वप्नेपि योजयेत् ॥८२॥
भिन्न देहतें भाविये, त्युं आपहिमें आप ॥
ज्यूं स्वप्नहीमें नहीं हुए, देहातम भ्रम ताप ॥८६॥

अर्थः-देहसे अलग करके आत्माकी आत्मामें इस प्रकार भावना करनी कि, जिससे फिर स्वप्नेमेंभी शरीरका साथ आत्माके योग हो।

भावार्थः-प्रथम तो पुद्गल वह मैं नहीं, ऐसी दृढ भावना करनी। पश्चात् अरूपी असंख्य प्रदेशी आत्म वह ही मैं हुं ऐसी भावना भावणा। सतत् दृढ भावना रखना। विना आत्माके ओर सब वस्तु अपनी नहीं एसा हृदयमें निश्चय करना। अपने स्वरूपमें एक स्थिर उपयोगसे वर्तना कि, ओर किसी पदार्थका किंचित् मात्रभी विकल्प पैदा न हो। निर्विकल्पदशा उत्पन्न हो ऐसा सतत् अभ्यास करना कि, स्वप्नेमेंभी साथ शरीरके आत्माका योग न हो वहां तक अभ्यास बढाना। ऐसी दशा बडी मोक्ष मार्गकी पावडी है। ऐसी दशा जिसकी है, वेही पुरुष जगतमें बडा समजना चाहिये। कोइ मुनिराज तप

करे, कोई अभ्यास करे, उसके बजायभी आत्माकी उक्त द-शामें वर्ते वह महा पुरुष समजना। कहां संकल्प विकल्प दशा! और कहां निर्विकल्प दशा! कहां आकाश! और कहां पाताळ! इतना फर्क इसमें वर्तता है। बाह्य उपाधि उपरसे जब त्यागभाव हो, और सारमें सार आत्माही है, ऐसा सत्य आभास हृदयमें हो, तब आत्माके धर्म उपर रूचि होती है। आत्माके धर्मकी प्राप्तिके वास्ते प्रवृत्ति होती है, और संसारमें बेचैनी हो, चकोरको चंद्रकी साथ जैसा प्रेम है, वैसा ज्ञानीको आत्मा उपरही प्रेम वृद्धि पाता है। आत्म वेही साध्य है, और आत्माही मुक्ति पाता है। आत्मामेंही अनंत सुख रहा है, ऐसा निश्चय होते, आत्मध्यानमेंही एक तान लगता है, और उससे आत्मा सहज सिद्धिरूप प्रगट करता है।

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं, व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ॥
अव्रतानीव मोक्षार्थी, व्रतान्यपि तत स्त्यजेत ॥८३॥

पुण्य पाप वृत अव्रते, मुगति दोउके त्याग ॥
अव्रतपैरै व्रतभी तजै, ताते धरी शिवराग ॥८७॥

अर्थः—अव्रतसे पाप और व्रतसे पुण्य, और मोक्ष ये दो-नोके वास्ते व्ययके मोक्षाभिळापीने अव्रतके मुताबिक व्रतकाभी त्याग करना।

विवेचनः—अपुण्य माने पाप, वे अव्रत माने हिंसादिकसे

विरामभाव उससे पुण्य होता है। और मोक्ष तो दोनोंका व्यय हो जाय तबही होता है। पाप वे लोहेकी बेडी है, और पुण्य वह सोनेका बेडी है। पुण्य छाया समान हैं, और पाप धूप समान है। पुण्य पापके क्षयसे मुक्ति होती है। वास्ते मोक्षाभिलाषी जनोने अव्रतके मुताबिक व्रतकाभी त्याग करना। कब और किस प्रकार त्याग करना सो बताते है।

अव्रतानि परित्यज्य, व्रतेषु परिनिष्ठितः ॥
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य, परमं परमात्मनः ॥८४॥
परम भाव प्रापति लगै, व्रत धरि अव्रत छोडि॥
परम भाव रति पायके, व्रतभी इनमें जोडि॥८८॥

विवेचनः—अव्रत जो हिंसादिक उसका प्रथमसेहिं त्याग करना, और व्रतोको अंगिकार करना, और पश्चात् जब परम वीतरागता रूप पदकी प्राप्ति हो तब व्रतोंकोभी त्याग करना। परम भावकी प्राप्तिक व्रतको धारण करना। परम भावकी प्राप्ति हुई नहीं, और जो व्रतको छोडता है, वे दुःखी होता है और तत्व फल पाता नहीं। व्रतोंसे पापका अटकाव होता है, व्रत ये मोक्षमार्ग पावडीयां (निसरनी) है। व्रतसे आत्मा अच्छी स्थिति पाता है, वास्ते भव्य जीवोने व्रतका आदर करना। कितनेक शुष्कज्ञानी ब्रह्मकी बातें करते है, और अव्रतमें सदाकाल प्रवृत्ति करते है। वह मोक्षमार्गके सन्मुख नहीं हो

सक्ते । सवव कि, वस्तुको जानके उसके वास्ते उद्यम करें, ऐसा उत्तम पुरूषोंका वचन है। अव्रतका त्याग और व्रतके अंगिकार सिवा होता नहीं । इस लिये व्रतका आदर करना, और अखीरमें परम पद प्राप्त होते उसकाभी त्याग करना ।

दहन समै ज्युं तृण दही, त्युं व्रत अव्रत छेदि ॥
क्रिया शक्ति इनमें नहीं, जागति निश्चय भेद ॥६९॥

विवेचनः—जैसे अग्नि घासको जलाके, आपबंद होजाता है, वैसे व्रतभी अव्रतको छेद—काटके अखीरमें व्रतभी विलय भावको प्राप्त होता है । विना आगके घास जलता नहीं वैसे विना व्रतके अंगिकार किये अव्रतभी टल सक्ते नहीं । मगर व्रतमें अव्रतको काटनेकी ताकत नहीं है । वाह्य और अभ्यंतर ये दोनो प्रकारके अव्रतको काटनेकी ताकत तो, निश्चय नयसे देखते, आत्माके स्वभावमें रही है । तात्पर्यार्थ कि, जब आत्माक्षयोपशम भाव योगसे ज्ञान पाके, तथा मोहनीय कर्मका क्षयोपशम वा उपशम भाव प्राप्त करके, ध्यानसे अपने स्वरूपमें तन्मय हो जाता है, तब पापाश्रवरूप अव्रतोंका परिहार करता है। अपने स्वरूपमेंही खेलते अपने आपसे पाप रूप अव्रत दूर होते है, और पापके हेतुओंकाभी कुछ नहीं चलता। पुण्यरूप जो व्रत उससे आत्माके साथ लगे हुए पापकर्म दूर होते नहीं । आत्माके प्रदेशोके साथ लगे हुए पापकर्म दूर करनेकी ताकात तो निश्चय नयसे देखते, आत्म-

स्वभाव रमणतामें रही है। व्रतरूप व्यवहारसे पापके हेतु दूर होते है, और उससे शुभपरिणामके योगसे पुण्यबंध होता है। वह पुण्यके योगसे स्वर्गके सुखकी प्राप्ति होती है, और परंपरासे मुक्तिका निमित्त होता है। शुभाश्रव और अशुभाश्रव ये दोनोंसे आत्मतत्त्व अलग है। आत्माही अपने स्वरूपमें ध्यान से स्थिर होकेदोनों प्रकारके आश्रवको काटता है। आश्रवका छेद करनेवाली तो आत्मस्वभाव शक्ति है। विशेष कर्ताका निश्चय आशय तो वे जानें।

यदन्तर जल संपृक्त, मुत्प्रेक्षाजाल मात्मनः॥
मूलं दुःखस्य तन्नाशे, शिष्ट मिष्टं परंपदम्॥८५॥

भावार्थः–जो उत्प्रेक्षा जाल माने चिंताकी जाल कैसी है वे कहते हैं कि, अन्तर वचन व्यापारें युक्त वेही दुःखका मूल है। वास्ते ऐसी अन्तरमें होती विकल्प संकल्प रूप चिंताजाल उसका नाश होते, अभिलषित ऐसा परम पद जो मोक्ष वेही शेष रहता है, और आत्माका अनुभव होता है। वैखरी वाणीसें न बोलनेमें आवे, उससे अपने कर्म नहीं बांधते, मगर वैसे जानना वह भूल भरा है। मनमें अनेक प्रकारकी जाल गूंथना वहभी कर्मकी वृद्धि कराता है। प्रसन्नचंद्र राजर्षिने जब मनमें चिंता जाल रची तब सातमी नर्कका कर्म पैदा किया, और जब अन्तरमेंसे चिन्ता जाल रहित हुए, और अपने स्व-

रूपमें रमण करने लगे, निर्विकल्प पने आत्मध्यानमें स्थिर हुए तब केवलज्ञान पाया । इस लिये अन्तरमें उठती एसी चिंताजालका स्वस्वरूपके ध्यानसे नाश करना ।

अव्रती व्रत मादाय, व्रतीज्ञान परायण: ॥
परात्मज्ञान संपन्न, स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥
व्रत गुण धारत अव्रती, व्रती ज्ञान गुण दोइ ॥
परमातमके ज्ञानते, परमातम पद होइ ॥७०॥

विवेचनः—अव्रतीने व्रत लेके, और व्रतीने ज्ञान ग्रहण करके, यों अनुक्रमसे परमात्मज्ञान संपन्न स्वयमेव होना। अव्रतावस्थामें होती विकल्प जालको व्रतका ग्रहण करके काटना । व्रतावस्थामें ज्ञान परायण होना । ज्ञान परायण होनेसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है, और पश्चात् व्रतभी स्वयमेव छुटते है । परमात्म ज्ञानसे आत्मा परमात्म स्वरूपका ध्यान करे तो परमात्म रूपसे प्रकाशता है प्रगट होता है । ऐसा परमात्म सार वही सब धर्माचरणका सारमें सार तत्त्व है । अव्रत अथवा व्रत ये दो विकल्पसे अलग परमात्म स्वरूप है । वे ही साध्य करना ।

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं, देह एवात्मनो भवः ॥
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्ग कृता ग्रहाः॥८७॥

जातिर्देहाश्रिता दृष्टा, देह एवात्मनो भवः ॥
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्त, ये जातिकृताग्रहाः॥८८॥
जाति लिङ्ग विकल्पेन, येषांच समया ग्रहः ॥
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव, परमं पद मात्मनः ॥८९॥
लिङ्ग देह आश्रित रहे, भवको कारण देह ॥
ताते भव छेदै नहीं, लिङ्ग पक्षरत जेह ॥ ७१ ॥
जाति देह आश्रित रहे, भवको कारण देह ॥
ताते भव छेदै नहीं, जाति पक्ष रति जेह ॥७२॥
जाति लिङ्गके पक्षमे, जिनकू है दृढ राग ॥
मोह जालमे सो परै, न लैहे शिवसुख भाग॥७३॥

विवेचनः-लिंग माने जटा धारण, रंगीन कपडे, दंड धारण करना, अमुक चिह्न शरीर उपर धारण करना । वे सब देहाश्रित रहे हुए है, और वे शरीरका धर्म है, और देह है वह संसारका कारण है । वास्ते जो लिङ्गमें (चिह्नमें) आग्रह धारण करनेवाले हैं, लिंग-भेष वेही मुक्तिका कारण है, विना अमुक लिंगके मुक्ति होतीही नहीं, ऐसे एकान्त कदाग्रह वाले जीव मुक्ति नहीं पाते । लिंग कहो कि, भेष कहो वे कुछ चैतन्य वस्तु नहीं है, वैसा होतेभी उसमेंही जो एकान्त निरपे-

स्पनेसें धर्म माने तो, वे अज्ञानी है, और ऐसे अज्ञानीको मुक्ति नहीं होसक्ती ।

जाति माने ब्राह्मणादि सयजनी, जाती वे शरीरको आश्रयी रहेती है, और शरीर है, वह संसारका हेतु है । वास्ते जो जीव जातिमेंही मुक्ति मानते हैं, और जातिसेही मग्न रहते हैं, वह संसारका नाश नहीं करते । जाति कोई आत्म वस्तु नहीं है, वैसी जातिमें अभिमान धारण करके स्वतः उच्च है ऐसा समजे, और उससे अभिमान करे, और नीच जातिका अपमान करे, निंदा करे तो वह मनुष्य धर्मकी वजाय कर्म ग्रहण करता है । हरिकेशीने जातिका मद करके वहुत दुःख पाये । जिस मनुष्यको जाति और लिंगके पक्षमें दृढ राग है, अर्थात् जाति और लिंगकोही मोक्ष मानता है, वह विचारा मोहकी जालमें फँसा हुआ है, और वे मोक्षसुख नहीं पा सक्ता । उस संबंधी श्री चिदानंदजी महाराजश्री आत्मभावना भावते हुए कहते हैं किः—

वरण भांत तामे नहीं, जात पांत कुल रेख ॥
राव रंक तो तुं नहीं, नहीं बाबा नहीं भेष ॥१॥
जो उपजे सो तुं नहीं, विणसे सो पण नाहीं ॥
छोटा मोटा तुं नहीं, समज देख दिलमांहि ॥२॥

जितने प्रकारकी वर्ण (जाति) कहनेमें आती है, वह वर्ण

आत्मा तेरेमें नहीं है। जो मनुष्यकी जातिके भेद हैं, वे हे आत्मा। तेरेमें नहीं है। तुं राव नहीं रंक नहीं (इत्यादि) तथा जो पैदा होता है और नष्ट होता है, ऐसे शरीरादि रूप भी तुं नहीं है। तुं छोटा नहीं, वडा नहीं, छोटाई और वडाइ वे उमर और धन सत्तादिसे कहनेमें आता है। वाह्यधन और वाह्यसत्तासे तुं हमेशां अलग है। हे आत्मा! इस प्रकार दिलमें समझके तुं तेरा स्वरूप ग्रहण कर, और अब मायाकी भ्रान्तिको भुल जा, तुं अरूपी है। जैसे स्फटिक रत्नकी लाल (सुर्ख) पीली, काली ऐसी वस्तुकी उपाधि योगसे भिन्न २ हालत मालुम होती है, मगर वे उपाधिसे स्फटिक रत्न अलग है वैसे आत्माभी जाती लिंगादिसे अलग है। सीर्फ वहिरात्म बुद्धिसे वे मैं हुं, ऐसी भ्रान्ति होती है; वे भ्रान्तिका नाश क्षणभरमें सद्गुरू महाराजके उपदेशसे होता है, और यथार्थ आत्मस्वरूप समजनेमें आता है। अपना शुद्ध स्वरूप समजते संशय, विपर्ययादि दोषोंका सहज नाश होता है।

लिङ्ग द्रव्य गुण आदरे, निश्चय सुख व्यवहार ॥
वाह्य लिंग हठ नय गति, करे मूढ अविचार ॥७४॥

विवेचनः—द्रव्य लिङ्ग है वह आत्मगुणोंका स्विकार करनेमें हेतु भूत है। निश्चयनयसे साध्य जो शाश्वत सुख उसमें द्रव्य. लिङ्गरूप व्यवहार कारणी भुत है। मगर द्रव्य लिंग वे

एकांतसे मोक्षका कारण नहीं है। ऐसा होने जो मूर्ख बाह्य लिंगमें कदाग्रह करता है, वे वस्तु स्वरूपको नहीं समजता। परमात्म पद रूप कार्यका उपादान कारण ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुण है। ज्ञान दर्शन चारित्राणि मोक्ष मार्गः। भावलिंगतो आत्माके गुण है। वे भाव लिंग जानना, और साधुका वेष आदि द्रव्य लिंग जानना। जिनको निश्चय उपर किंचित् रुचि नहीं है, और जो केवल लिंगमेंही धर्म मानने वाला है, वह मूर्ख जानना। निश्चय और व्यवहार जिसके हृदयमें बसे हैं, उसके वास्ते यह वचन नहीं है। मगर जो एकांत लिंग रूप बाह्य व्यवहारमेंही निश्चय सुख मानता है, उसके वास्ते हितशिक्षाके यह वचन है।

भाव लिंग जाते भये, सिद्ध पनरस भेद॥
ताते आतमकूं नहीं, लिंग न जाति न वेद॥७९॥

भावार्थः—भाव लिङ्गका उत्कृष्टता बताते है। भाव लिंग उत्पन्न होते, पंद्रा भेदसे जीव सिद्ध हुए। वास्ते आत्माको लिंग, जाति और वेद इसमेंसे कुछ नहीं है, आत्मा स्वगुणोंसेही सिद्ध होता है। जो भाव लिंग है वह आत्माका गुण स्वरूप है। वास्ते बाहिर भेषादिकमें मोह करना नहीं।

यत्त्यगाय निवर्तन्ते, भोगेभ्यो यदवाप्तये॥
प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति, द्वेष मन्यत्र मोहिनः॥८०॥

अर्थः-जिसके त्याग वास्ते और जिसकी प्राप्तिके लिये, भोगसे पीछा हटता है, उसके उपरही मोहान्धजी प्रीति करते है, और अन्यत्र द्वेष धारण करते है।

विवेचनः-शरीर, मन, वाणी उसके त्यागके वास्ते अर्थात् उसमे होती हुई ममता उसके त्यागके लिये पुत्र, स्त्री, धन, वैभवादिकसे निवृत्ति पाता है, मगर उलटावे त्याग करनेयोग्य शरीरके उपरही प्रीति धारण करता है। किससे इस प्रकार करता है तो कहते है कि, मोहसे गभराये हैं जिससे मोही जीवोंकी ऐसे प्रकारकी स्थिति है। मोहनीय कर्म दो प्रकारका है, एक दर्शन मोहनीय कर्म, और दूसरा चारित्र मोहनीय कर्म॥

प्रथम दर्शन मोहनीय कर्मके तीन भेद है, १ समकित मोहनीय २ मिश्र मोहनीय ३ मिथ्यात्व मोहनीय। ये तीन प्रकारके मोहनीय कर्मकी प्रकृतिका क्षय होनेसे दर्शनगुण प्रगटता है।

दूसरा चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयसे चारित्रगुण प्रगटता है। दर्शन मोहनीयकर्मके क्षयवाले जीव तो सत्य आत्म स्वरूप नहीं पहिचान सके। मगर उलटे विपरीत दृष्टिसे कर्म बंधन करके संसारमें परिभ्रमण करते हैं।

अनंतर ज्ञः सन्धत्ते, दृष्टिं पङ्गोर्यथान्धके॥
संयोगाद् दृष्टि मङ्गेऽपि, सन्धत्ते तद्वात्मनः॥९१॥

अर्थः—फर्कको नहीं जाननेवाला पुरूष, जैसे संयोगको लेके पंगुकी दृष्टि अंधेको आरोपण करती है, वैसेही अज्ञ आत्माकी दृष्टि शरीरमें आरोपण करती है ।

विवेचनः—अंधे पुरूषके खांधेपर पंगु बैठा हो, उसमें अंधा चले और पंगु रास्ता बतावे । दोनोंको चलते देखके उसका भेद न जाननेवाला ऐसा विचारता है कि, पंगुकी नजर वे अंधेकी है, ऐसा मानके पंगुकी दृष्टिका आरोपण अंधेमें करे, उसीही प्रकार देह और आत्माके संयोगको लेके अज्ञानी आत्माके धर्मको शरीरमें आरोपण करके भ्रम पाता है । ऐसी गलतीसे शरीरसे आत्मधर्म भिन्न नहीं समजता । शरीरसे आत्म धर्म भिन्न है, ऐसा ज्ञान नहीं हुआ, वहां जीव कर्म मार्ग के सन्मुख गति करता है । बहिरात्माको ऐसे होता है तब अन्तरात्माको कैसे होता है सो बताते हैं ।

दृष्ट भेदो यथा दृष्टिं, पङ्गोरन्धेन योजयेत् ॥
तथा न योजयेद्देहे, दृष्टात्मा दृष्टि मात्मनः ॥९२॥
पंगु दृष्टि ज्युं अंधमे, दृष्टि भेद नहु देत ॥
आतम दृष्टि शरीरमे, त्युं न धरै गुण हेत ॥७८॥

विवेचनः—जिसकी दृष्टि भेदकी वाकबी है, वह पुरूष जैसे पंगुकी दृष्टिको अंधेको नहीं मानता, वैसे जे शरीर और आत्माके भेदको जाननेवाला ऐसा अन्तरात्मा है, वह आत्मा-

की दृष्टिका शरीरमें आरोपण करता नहीं। आत्मज्ञानी शरीरको अपना मानते नहीं, जलपंकजवत् उपयोग दृष्टिसे अन्तरात्मा सदाकाल देहसे अलग वर्तता है। अब भ्रान्ति और अभ्रान्तिका लक्षण बताते है।

सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव, विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम् ॥
विभ्रमाऽक्षीण दोषस्य, सर्वावस्थात्म दर्शिनः ॥९३॥
स्वप्न विकलतादिक दशा, भ्रम मानै व्यवहार ॥
निश्चय नयमे दोप क्षय, बिना सदा भ्रमवार॥७७॥

विवेचनः-अनात्म दर्शि बहिरात्मा है, उसको सुप्त माने निद्रावस्था, और उन्मत्त दशा ये आदि सब विभ्रमावस्था है। आत्मदर्शी अन्तरात्मा तो अक्षीण दोषवाले बहिरात्माकी अवस्था मात्रको केवल विभ्रम रूपही मानता है। फिर इस श्लोकका अर्थ दुसरी तरह करते ऐसाभी होता है कि, आत्मदर्शिओंको निद्रावस्थाभी विभ्रम रूप नहीं है। सबब कि, आत्मध्यानमें रमणके अत्यन्त अभ्याससे उनोंको विपर्यास नहीं होता। और फिर ऐसे आत्मदर्शिओंको आत्मज्ञानकी विकलताकी असंभव है। आत्मदर्शी अंतरात्माको निद्रादि हालतमेंभी विभ्रम नहीं तो जाग्रत् अवस्थामें कहांसे होय? अलबत न हो।

परन्तु जिनोंके दोष क्षीण नहीं हुए, ऐसे देहादि आर-

स्थाकोभी आत्मा मानते है, उनोंकी अनेक विभ्रमका संभव है। आत्मदर्शिको किंचित् मात्रभी विभ्रमका संभव नहीं है। आत्मदर्शीकी निद्रावस्थाके बराबरभी वहिरात्माकी जाग्रत अवस्था नहीं है। अहो! दोनोंकी हालतमें कितना फर्क है।

अब बाल्य यौवन वृद्धावस्थादिको आत्मबुद्धिसे देखने-वाले मनुष्यभी संपूर्ण शास्त्रकी वाकवीसे निद्रारहित होते मुक्त होगा ही। ऐसा कहनेवालेको कहते है।

विदिता शेष शास्त्रेऽपि, न जाग्रदपि मुच्यते ॥
देहात्म दृष्टिर्ज्ञातात्मा, सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥९४॥
छूटै नहीं बहिरात्मा, जागतभी पढि ग्रंथ ॥
छूटै भवथे अनुभवी, सुपत विकल निरगंथ ॥७८॥

विवेचनः—बहिरात्मा संपूर्ण शास्त्रका ज्ञाता होतेभी, और जाग्रत होतेभी कर्मसे छूटता नहीं, और भेदज्ञानी, अनुभवी अन्तरात्मा खूब दृढाभ्यासको लेके निद्रा लेता हो तथा विकल हो तोभी संसारमेंसे छूटता है। अर्थात् कर्मरहित होता है।

पढी पार कह पावनो, मिट्यो न मनको चार ॥
ज्यूं कौलूके वैलकूं, घरही कोस हजार ॥ ७९ ॥

विवेचनः—मनके विकल्प टले नहीं, तो पढके किस तरह

पार पा सके ? पढनेका सार्थक्य यह है कि, मनके संकल्पविकल्प टल जाय, और मन आत्माभिमुख हो। यदि मन आत्माभिमुख नहु आ तो पढ़ना गुनना सब व्यर्थ है। जैसे कोल्हुका बैल सब दिन फिरा करता है, और मनमें जानता है कि, मैं हजार कोस चला मगर है घरका घर ही। उसीही प्रकार जिसका मन कबजे न हुआ तो, उसका पठन संसारमें परिभ्रमण करवाता है। अपि उससे संसारान्त नहीं होता। वाद विवादके शास्त्र अध्ययन करनेसेभी संसारका अन्त नहीं पाता। श्री ज्ञानसारमें कहा है कि:—ज्ञानाष्टकमें.

वादांश्च प्रति वादांश्च, वदन्तोऽनिश्चितां सथा ॥
तत्पान्तं नैव गच्छन्ति, तिल पीलकवद्गतौ ॥ ४ ॥

विवेचनः—अनिश्चित ऐसे वाद और प्रतिवादको करने वाले, तत्त्वका अन्त तैलीके बैल समान नहीं पाते। तैलीका बैल गमनका अन्त पाता नहीं, वैसे सात नयके अज्ञात पुरुष खंडन मंडन करते संसार समुद्रका पार पाते नहीं। साध्य शून्य दशासे जो व्याकरण, न्याय, अलंकार सिद्धांतादिका पठन पाठन वास्ते आत्महितके नहीं होता, और उससे मनोगत संकल्प विकल्प नहीं टलते। वास्ते विकल्प संकल्परूप घासको जलानेके अग्निसमान आत्मज्ञानके अभ्यासकोही सार्थ १११ जानना।

यत्रै वा हित धीः पुंसः, श्रद्धा तत्रैव जायते ॥
यत्रैव जायते श्रद्धा, चित्तं तत्रैव लीयते ॥९५॥
जिहां बुद्धि थिर पुरुषकी, तहँ रुचि तह मन लीन॥
आतममति आतमरुचि, कहो कौन आधिन ॥८०॥

विवेचनः—जहां मनुष्यकी बुद्धि स्थिरतासे लगती है, वहां उसकी रुचिभी लगती है; वहांही श्रद्धालु चित्त होता है, और वहां चित्त लय पाता है। जिसकी आत्माके विषयमें मति लगी है, तो उसकी रुचि आत्मामेंही लगती है, आत्मामे चैन पड़ता है, और उसका मन एक आत्माके विषयमेंही लीन-मग्न होता है। जिस पुरुषका चित्त आत्मामें लय पाया है वह पुरुष किसीके आधिन नहीं वर्तता। अथवा वैसी रुचि विना आत्माके दूसरे किसीके आधीन है? अर्थात् किसीके आधिन नहीं है। वैसा पुरुष अन्तरसे देखते स्वतंत्रतासे वर्तता है। वे राग द्वेष परपरिणतिके आधीन होता नहीं, और स्वपरिणतिमें खेलनेसे अपनी ऋद्धिका आप भोक्ता हुआ, और षट्कारक अपने आत्मामें सुलटे परिणमे; तब आत्मा तीनों जगत्में पूज्यताको पाया। आठ कर्मरूप पिंजरसे आत्मा मुक्त हो, और अखंड सुख भोगे, वास्ते भव्य जीवोने आत्मामेंही मति धारण करनी, और आत्मामेंही रुचि धारण करनी. अपनी ऋद्धि अपने पास है। बहिरात्म बुद्धिसे कहा आड़े इधर उधर भट-

करते हो। अष्ट सिद्धि और नव निद्धि भी घटमें है। उस संबंधी उपाध्यायजी कहते हैं कि:-

धर्मसिद्धि नवनिद्धि है घटमे,
कहा ढुंढत जई काशी हो॥
जस कहे शांत सुधारस चाख्यो,
पूरण ब्रह्म अभ्यासी हो॥ ६॥

यत्रैवा हित धीः पुंसः, श्रद्धा तस्मिन्निवर्तते॥
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा, कुत श्चित्तस्य तल्लयः॥९६॥

विवेचनः-जिस विषयमें मनुष्यकी बुद्धि न लगे, उस विषयमें उसकी श्रद्धा नहीं होती। अर्थात् उसकी बुद्धि पीछी फिरती है। ऐसा जब होता है तब उस विषयमें चित्त लय किस प्रकार है; अर्थात् न हो। पर स्वभावमें आत्माकी वैसे प्रकारकी बुद्धि होते उसमें चित्त नहीं लगता। जहां चित्तका लय होता है, ऐसा जो ध्येय वह भिन्न हो, अथवा अभिन्न हो वहां भिन्न ऐसे ध्येयका ध्यान करनेसे क्या फल होता है, सो बताते हैं।

भिन्नात्मा न मुपास्यात्मा, परोभवति तादृश॥
वर्तिर्दीपं यथापास्य, भिन्ना भवती तादृशी॥९७॥

सेवत पर परमात्मा, लहै भविक तस रूप ॥
बत्तियां सेवत ज्योतिकूं, होवता ज्योति सरूप॥८१॥

विवेचनः—भिन्नात्मा अर्थात् अपने आत्मासे अलग ऐसे अरिहंत, सिद्धरूप आत्माकी उपासना करनेसे आराधक पुरुषभी परमात्मा होता है। उसपर दृष्टांत बताते हैं। जैसे दीपकसे अलग ऐसी जो बत्ति वह दीवेका ज्योतिका सेवन करके, आपभी ज्योतिरूप बनता है। वैसे यहां समजना। अब अपनेसे अभिन्न ऐसे आत्माकी उपासनाका फल बताते हैं।

उपास्यात्मा नवैमात्मा, जायते परमोऽथवा
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव, जायतेऽग्निर्यथा तरुम् ॥९८॥
आप आपमें स्थित हुए, तरुथे अगनि उद्योत
सेवत आपही आपकूं, त्यूं परमातम होत ॥८२॥

आत्मा स्वयं चिदानंद स्वरूप अपने आपकी उपासना करके परमातम रूप बनता है। वास्ते आत्माने अपने स्वरूपका ध्यान करना। स्वसत्ता सिद्धात्म समान जानके उसमें रमणता करना। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे अन्य द्रव्यका स्वरूप जानके उससे उपयोग संहरके. अपने स्वद्रव्यादिक चतुष्टयसे, अपने स्वरूपमें उपयोग जोड़ना। आत्माका हरेक प्रदेश अनंत गुण तथा अनंत पर्याय है। उसका स्थिर उप-

योगसे ध्यान धरना। फिर वे ध्यानकेभी बहुत भेद है। उसमें रुपातीत ध्यान वडेमें वडा है, और वे रूपातीत ध्यान उत्कृष्ट दशावाले जीवको प्राप्त होता है। अपने स्वरूपमें इस प्रकार आत्माको जोड़ना कि, वे किंचित् मात्रभी चलायमान न हो। जब दृढतासे उपयोगकी धारा आत्म स्वरूपमें वहन करती है, तब प्रथम अनुभव ज्ञान प्रगट होता है, और जब अनुभव ज्ञानसे आत्माका निर्धार हो, तब आत्माका अलौकिक शुद्धानंद प्रगट होता है। सहजानंदकी खुमारी ओरही प्रकारकी है। वह खुमारी प्रगट होते आनंद २ व्याप्त हो जाता है, ऐसा आनंद किसी स्थानपर नहीं मिलता। ऐसे आनंदकी कोई दुकानभी नहीं है कि, यहांसे खरीद लावे! जब अपने स्वरूपमें आवे, और समताके साथ खेले तब ऐसा आनंद प्रगटता है। ऐसा आनंद कुछ रास्तेमें या दुकानमें मिलता नहीं। फिर ऐसा आनंद कोई विषय सुख भोगते मिलता नहीं। चोसट इंद्र जो भूतकालमें हो गये, अभी वर्तते है, और भविष्यमें होंगे, ऐसे तीन कालके देवता, तथा तीन कालके चक्रवर्ति और वासुदेवादिक राजाओंको विषय सुख भोगते जो कुछ आनंद मिलता है वह सब आनंद इकठा करे, और एक तरफ आत्मानुभवसे प्रगट भया हुआ जो आनंद उसके सामने इंद्रादिकका आनंद तो स्वयंभूरमण समुद्रकी आगे एक पानीकी बुंदके बराबर नहीं है। वास्ते आत्माका आनंद अनुपमेय है।

फिर बाल्यावस्थाके खेलमें जो आनंद मिलता है, वह भी आ-त्माके आनंदके सामने कुछ हिसावमें नहीं है। फिर ऐसे प्र-कारका आनंद अज्ञानभक्तिसेभी नहीं मिलता। फिर आ-त्मानुभवसे प्रगट भये हुए आनंदके आगे स्वयंभुरमण समुद्र भी एक बुंदके समान है। पूर्वोक्त प्रकारके आनंदका स्वरूप पदद्वारा कहते है।

पद.

आनंद क्यां वेचाय, चतुर नर आनंद क्यां वेचाय ॥ए देशी॥
आनंदनी नहीं हाटडीरे, आनंद वाट न घाट ॥
आनंद अथडातो नहींरे, आनंद पाट न खाट ॥ चतुर० १ ॥
क्षणिक विषयानंदमांरे, राच्या मुरख लोक ॥
जडमां आनंद कल्पीनेरे, जन्म गमावे फोक ॥ चतुर० २ ॥
वालपणे अज्ञानथीरे, रमवामां आनंद ॥
क्षणिक आनंद ते सहीरे, राचे त्यां मति मंद ॥ चतुर० ३ ॥
अज्ञाने जे भक्तिमांरे, मान्यो मन आनंद ॥
आनंद साचो ते नहींरे, मुर्खमतिनो फंद ॥ चतुर० ४ ॥
भेद ज्ञान दृष्टि जगेरे, जागे आतम रूप ॥
आतममां आनंद छेरे, टाळे भव भय धूप ॥ चतुर० ५ ॥
ज्ञानी ज्ञानथकी लहीरे, शाश्वत सह्यानंद ॥
योगी आतमसमाधिमांरे, पावे आनंद कंद ॥ चतुर० ६ ॥

आनंद अनुभव योगथीरे, प्रगटे घटमां भाइ ॥
सद्गुरु संगत आपशेरे, ज्ञानानन्द वधाई ॥ चतुर० ७ ॥
सद्गुरु हाटे पामशोरे, आनंद अमृत मेव ॥
बुद्धिसागर कीजियेरे, प्रेमे साची सेव ॥ चतुर० ८ ॥

श्री सद्गुरु महाराजकी संगतिसे, ऐसे प्रकारका आनंद प्रगटता है (अब मूळ विषयपर आवें) आत्म ध्यान करते सूर्य समान आनंद प्रगटता है, उससेंही सहजानंद प्रगटता है। वास्ते सब शास्त्रानुसार ऐसे आत्मज्ञानका ध्यान धरना । आत्मामें रमण करते ध्यान धारासे सहज अनुभव प्रगट होता है। अनुभवका स्वरूप वर्णन करते है ।

पद.

चेतन अनुभव रंग रमीजे, आगम दोहन अनुभव अमृत ॥
योगी अनुभव रीजे ॥ चेतन० १ ॥
अनुभव सुरतरु वेली सरखो, अनुभव केवल भाइ ॥
अनुभव शाश्वत सुख सहोदर, ध्यान तनुज सुखदायी ॥ चे० २॥
अनुपम अनुभव वर्णन करवा, कोण समर्थ कहावे ॥
वचना गोचर सहज स्वरूपी, अनुभव कोइक पावे ॥ चे० ३ ॥
अनुभव हेतु तप जप किरिया, अनुभव नातन जाती ॥
नय निक्षेपाथी ते न्यारो, कर्म हणे घन घाती ॥ चे० ४ ॥
विरला अनुभव रस आस्वादे, आतम ध्यान योगी ॥

आतम अनुभव विण जग लोको, थाये नहीं सुख भोगी ॥
॥ चेतन० ९ ॥

अनुभव योगे आतम दर्शन, पामी कहत खुमारी ॥
बुद्धिसागर साची व्हाली, अनुभव मित्त सुं यारी ॥ चे० ६ ॥

इस मुताबिक अनुभव ज्ञानके योगसे आत्म दर्शन प्रगटते आनंदकी खुमारी प्रगटती है। अब अनुभवकी खुमारीका आस्वाद लेके आत्मा अपने गुण पर्यायके स्वरूपके ध्यानमें स्थिर उपयोगसे वर्ते, और स्वगुणमें रमण करते क्षपकश्रेणि आरोही, शुक्ल ध्यानका दूसरा पाया चिंतवके, घटमें केवलज्ञानादि रत्नत्रयी प्रगट करे। समभिरूढ नयकी अपेक्षासे घातीक कर्म खपावे सिद्ध हो, और अशरीरमें एवं भूत नयकी अपेक्षासे आठ कर्मोंका संपूर्ण क्षय करके सिद्धशिलाके उपर एक योजन, और वे योजन वह एक योजनके चोविस हिस्से करके, उसमें तेवीस हिस्से नीचे छोडके चोवीसमें हिस्सेमें अवगाहना ग्रहण करके सिद्ध हो, परमात्मा हो। आत्माका शुद्ध पर्याय वही सिद्धावस्था जानना। जैसे दो वृक्ष परस्पर साथ घिसते वृक्षमें अग्नि प्रगटता है, और आप स्वयं अग्नि हो जाता है, वैसे आत्माभी आत्माका ध्यान करते परमात्म रूप हो जाता है। श्री आनंदघनजी महाराज कहते हैं कि:—

जिन स्वरूपे थइ जिन आराधे, ते सहि जिनवर होवेरे ॥
भृंगी इलीकाने चटकाने, ते भृंगी जग जोवेरे ॥७॥ पद ॥

जो भव्य तदाकार वृत्तिसे परमात्माका ध्यान करता है, वह प्राणि निश्चयसे ज्ञानादिगुणयुक्त परमात्मा हो । जैसे मदकी उन्मत्ततासे भँवरी काली अगर पीली भीजी हुइ मिट्टीमें लव धरके, आप उसकी छोटी गोली बनाके, एक एक गोली लाके घर बनाके, उसमें, इलिकाको डंग देके, घरमें ला छोडे, और एक गोलीसे घरका मुख बंध करे, सत्तरँवे दिन डंगसे उस घरका मुँह खोलते वह इलीका भँवरी होके उड़ जाती है । वैसे आत्माकाभी जिन स्वरूपमें परिणमन होना, उस घरमें रहना, और उस घरमेंही आत्मा परमात्म रुप बनता है । जैसे उस घरमेंसे भँवरी उड़ जाती है, वैसे आत्माभी. आठ कर्मोका क्षय करके, चौदा राजलोकके अन्तमें एक समयमें समश्रेणीसे जाता है, और वहां सादि अनंत स्थितिके हिस्सेमें बसता है ।

भव्य जीवोको आत्मस्वरूप है वही अपना है, ऐसा हृदयमें निश्चय करना और आत्माके साथ प्रीति करना । आत्मामें प्रीति होते, अन्यत्र जो प्रीति होती है वह नष्ट होती है । विना आत्मामें प्रीति हुए अन्यसे प्रीति नहीं छुटती । श्री आनंदघनजी महाराज आत्मस्वरूप प्रभुके साथ प्रीतिके एकतानमें आके कहते है कि:-

मन कोइ प्रेमके फंद पड़े, परतसो विकसत नांही ।।मन० १।।
जल बीच मीन कमलजल जैसे, विरहे सोई मरे ।।मन० २।।

बुंदके कारण पपइया पुकारत, दीपक पतंग जरे ॥ मत० ३॥
आनंदघन प्यारे आयमिलो तुम, विरहकी पीर हरो॥मत०४॥

श्री आनंदघनजी महाराज कहते है कि, कोई प्रेमके फंदमें मत फँसो । जो प्रेमके फंदमें फँसा वह वहांसे निकल सका नहीं; जलके साथ मीन व कमलको ऐसा प्रेम है कि, वह दोनों जलसे अलग होते प्राण गँवाते है । वास्ते एक बुंदके पपईया वारंवार आकाशके सामने देखके पुकार है, करता वो मेघके जलके साथ प्रेम धारण करता है । वैसे पतंगीया प्रेमके वशसे दीपकमें गिरके मर जाता है । वैसे मेराभी प्रेम आत्मा रूप प्रभुके साथ अविचल है । वास्ते हे आनंदके जो समुद्र. उसके आधारभुत, हे आत्मारूप परमात्मा ! तुम अब मुझे मिलो, तो अनादिकालसे तुमारे स्वरूपकी प्राप्तिका जो विरह, उससे होता जो जन्म, जरा और मरणरूप दुःखकी पीडा टल जाय-निवृत्त हो जाय । ऐसा आनंदघनजी कहते है। हे आत्म प्रभु ! विना तुमारे मैं जी सकनेवाला नहीं, तुमारा वियोग मुझे बहुत लगता है । तुमारा दर्शन वेही सब आशाका कंद है । फिर वही महात्मा आत्माका ध्यान करते गाते है कि:-

चेतन अप्पा कैसे लहोंही, सत्ता एक अखंड अबाधित ॥
इह सिद्धांत परख जोई ॥ चेतन० ॥ १ ॥
अन्वय व्यतिरेक हेतको, समज रूप भ्रम खोई ॥
आरोपित सब धर्म और है, आनंदघन तत सोई ॥चे० २॥

जिस आत्माकी सत्ता अखंड, अबाधित और एक स्वरुप है, ऐसा आत्मसत्ताका ध्यान व्यक्तिभावका देता है। आत्मामें विना अपने धर्मके जो अन्य धर्मका आरोप है, वे असत्य है। इस पदका अर्थ करते बहुत विस्तार हो जाता है वास्ते नहीं किया। तात्पर्य कहनेका यह है कि, इस आत्माका अभिन्न भावसे ध्यान करते आत्मा वेही परमात्मा होता है। वास्ते गुरुगमसे आत्मस्वरुप धारकं, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल, ये पांच द्रव्योंसे अलग आत्मा असंख्य प्रदेश धारी, उसके स्वरुपका विचारना। उस संबंधी पद कहते हैं।

पद.

ऐसा स्वरुप विचारो हंसा, गुरुगम शैली धारीरे ॥ऐसा० १॥
पुद्गल रुपादिकथी न्यारो, निर्मल स्फटिक समानोरे ॥
निजसत्ता त्रिहुकाले अखंडित, कवहु रहे नहीं छानोरे ॥ऐ०२॥
भेदज्ञान सूर उदये जागी, आतम धंधे लागीरे ॥
स्थिर दृष्टि सत्ता निज ध्यायो, पर परिणमता त्यागोरे ॥ऐ०३॥
कर्मबंध रागादिक वारो, शक्ति शुद्ध संभारोरे ॥
झीलो समता गंगाजलमें, पामी भुवकी तारीरे ॥ ऐसा० ३ ॥
निज गुण रमतो राम भयो जब, आतमराम कहायोरे ॥
बुद्धिसागर शोधो पदमां, निजमां निज परखायोरे ॥ऐ०४॥

जो तत्त्व है वह आत्माही है, आत्मारुप तीन भुवनके

राजाको छोडके अन्य राजाको मानना, यह कितनी बड़ी भुल है। अन्य कोई बड़ा मनुष्य दिखाई देतो तुम आजीजी करते हो, तो सबसे श्रेष्ठ जो आत्मा उसकी सेवामें तो तुम समजते नहीं। यह कितनी बड़ी भुल है। अब समजो। अपना शुद्ध स्वरुप पहिचानो। असंख्य प्रदेशरुप अपने घरमें निवास करो। उससे अभिन्न आत्माकी उपासना सफल होगी।

इतीदं भावये न्नित्यं, मवाचा गोचरं पदम् ॥
स्वत एव तदाप्नोति, यतो ना वर्तते पुनः ॥९९॥
एहि परमपद भाविये, वचन अगोचर सार ॥
सहज ज्योति तो पाइये, फिरि नहीं भव अवतार
॥ ८३ ॥

विवेचनः-इस प्रकार भिन्न या अभिन्न चाहे उस प्रकार आत्मस्वरुपकी भावना नित्य करना; ऐसी भावनासे अगोचर ऐसा मोक्षपद प्राप्त होता है। मोक्षपद पाये पश्चात् फिरसे वहांसे पुनः आना नहीं। अर्थात् पीछे संसारमें आवागमन नहीं है। ऐसा मोक्षपद स्वयमेव प्राप्त होता है।

तिरो भाव निज ऋद्धिनो, आविर्भाव प्रकाश ॥
परमातम पद ते कहुं, ते पदनो हुं दास ॥ १ ॥

आत्माकी ज्ञानादि ऋद्धिका जो तिरोभाव अनादिकालसे

है, उसका आविर्भाव होना, वही परमात्म पद जानना। आत्माके असंख्य प्रदेश है, वही आत्माका निवास है। वही असंख्य प्रदेशकी निर्मल ज्योति है। और फिर वह प्रदेश निर्मल ज्योति है। और फिर वह प्रदेश निराकार है, वैसा आत्मा शुद्ध सत्तासे मैं हुं। फिर जैसे ध्रुवका तारा अचल है, वैसे मेरा स्वरूपभी सत्तासे देखतें अचल है। ध्रुवके तारे समान आत्मा द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे ध्रुव है।

अयत्न साध्यं निर्वाणं, चित्तत्वं भूतजं यदि ॥
अन्यथा योगतस्तस्मान्न, दुःखं योगिनां क्वचित्
॥१००॥

विवेचनः-चेतना लक्षण आत्मतत्त्व जो भूतज अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार तत्त्वोंके समुहसे उत्पन्न हुआ ऐसा मानें तो निर्वाण जो मोक्ष वे यत्नसे न साध शकें। सबब कि, वीकृमतमें शरीरके त्यागके पश्चात् रहे सके ऐसे आत्माकाही अभाव है। चार भुतसे पैदा भया हुआ आत्मा मानें तो, शरीर नष्ट होते आत्माभी नष्ट हो जाय। सबब कि, शरीरसे आत्मा भिन्न चार्वाक मतमें नहीं है।

फिर सांख्यमतमें, भूतज अर्थात् सहज सिद्ध आत्मा निर्लेप है। सांख्यमतमें कहा है कि, ॥ प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु

पुष्करपलाशवत् निर्लेपः ॥ प्रकृति करती है, पुरुषतो कमलके पत्र समान निर्लेप है। वे मतानुसारसे आत्मा प्रथमसे ही शुद्ध और मुक्त माननेमें आवे तो, निर्वाणयत्नसे सिद्ध नहीं होती। चार्वाकमतवाले भुतसे आत्माकी उत्पत्ति मानते है, परन्तु वहां आत्मा नहीं है। आत्माका ज्ञान गुण है वह अरूपी है। अरूपी ऐसा आत्मा, वह रूपी ऐसे चार भुतोंका कार्य नहीं है। वास्ते चार भुतसे आत्मा अलग है। अन्यथा अर्थात् यह दोनों मतसे पृथक् प्रकारसे योगसे आत्मस्वरूपका स्वीकार करनेमें आवे तो, चित्तवृत्ति निरोधरूप योगसे निर्वाण सहजही प्राप्त होता है। और स्वस्वरूपमें रमण करते ऐसे योगियोंको छेदन भेदन होतेभी दुःख नहीं होता। सबब कि, आनंदस्वरूप अपने आत्माके ज्ञानसे छेदनादिसे उत्पन्न जो दुःख ज्ञान, उसका अभाव है। वास्ते सदाकाल योगिजन सुख अनुभवते हैं। पातंजल योगके अष्ट अंग कहते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये अंग जानना। सहज समाधिसे आत्मा परमात्मरुप होता हैं। श्री विनयविजयजी उपाध्याय योगद्वारा आत्माके स्वरुपका वर्णन करते हैं।

पद.

साधु भाई सोहे जैनका रागी, जाकी सूरत मूल धून लागी॥
सो साधु अष्ट कर्मसुं झगडे, शून्य बांधे धर्मशाला॥

सोऽहं शब्दका धागा साधे, जपे अजपा माला ॥ सा० १ ॥
गंगा जमना मध्य सरस्वति, अधर वह जळ धारा ॥
करिय स्नान मग्न हाय बैठे, तोड्या कर्मदल भारा ॥सा० २॥
आप अभ्यंतर ज्योति विराजे, वंक नाळ ग्रहे मूळा ॥
पश्चिम दिशाको खिडकी खोले, तो बाजे अनहद तूरा ॥सा० ३॥
पंच भूतका भर्म मिटाया, छट्टा मांहि समाया ॥
विनय प्रभुसु ज्योति मिली जब, फिर संसार न आया ॥
॥ साधु० ४ ॥

योग विषयक इस पदका भावार्थ यत्नसे साध्य मोक्षपदका वर्णन करता है । और साधनावस्थाकी उच्च स्थिति प्राप्त होते अद्भुत आनंद प्रगटता है, उससे फिर दुःखका किंचित् ख्याल नहीं होता ।

ज्ञानाकूं दुःख कछु नहीं, सहज सिद्ध निर्वाण ॥
सुख प्रकाश अनुभव भये, सबही ठौर कल्याण ॥
॥ ८४ ॥

विवेचनः-ज्ञानीको किसी प्रकारका दुःख नहीं है । जिसने छ द्रव्य, उनके गुणपर्याय, नय निक्षेपोंका ज्ञान भली प्रकार प्राप्त किया है वे ज्ञानी जानना । ज्ञानीको सहजही मोक्ष सिद्ध है । सुखका प्रकाश करनेवाला अनुभव घटमें उत्पन्न होते, सर्वत्र कल्याण परंपरा प्राप्त होती है और संपूर्ण कर्मोंका

क्षय—नष्ट करके, सिद्धस्थानमें आत्मा गमन करता है। कहा है कि:—

कृत्स्न कर्म क्षया दूर्ध्वं, निर्वाण पथि गच्छति ॥

संपूर्ण कर्मके क्षयसे, ऊर्ध्व—मोक्षस्थानको जीव पाता है। कर्मरहित जीवका स्वभावसेहो मोक्षस्थानमें गमनका स्वभाव है। मोक्षसुखका अनुभव करते एस ज्ञानी सर्वसे श्रेष्ठमें श्रेष्ठ हैं। उनोंका किसीकी स्पृहा नहीं है, बाह्य धन, बाह्य वस्त्रादिक तथा बाह्य राज्यसे रहित है, तो भी वे सब राजाओंको पूज्य हैं, और वेही सुखीमें सुखी है। लक्ष्मी विलासका सुख अल्प समयका है। वास्ते वह क्षणिक है, और ज्ञानसे जो सुख होता है, वह तो सत्य और शाश्वत है। वास्ते वेही आदेय जानना। जहां उपाधि है, वहां सुख नहीं। ज्ञानीको आत्म-ज्ञानसे उपाधि नहीं लगती, और उपाधिका संबंध हो तो भी वह उससे अलग रहते हैं। वास्ते ज्ञानी निरुपाधियोगसे सु-खके भोक्ता बनते हैं। संसारमें राजा, शेठ, रंक, भोगी, वि-द्वान् और कलावान् सर्व उपाधिरुप ग्रहसे ग्रहण कराये हैं, वास्ते वह सत्यसत्य सुखी नहीं है। ज्ञानी—जैसे विष्टामें डुक्कर राचे, वैसे—बाह्य जगत्की उपाधिमें मग्न नहीं होते। ज्ञानी निर्लेपतासे वर्तनेसे कर्मरहित होते है। अज्ञानी जहां जाय, जहां रहे, वहां सर्वत्र उसका मन उपाधिवाला होनेसे, किं-चित् मात्रभी शान्ति पाता नहीं। और ज्ञानी निर्लेपतासे वर्त-

नेसे सर्वदा सर्व कल्याण पाते हैं। इंग्लीश, संस्कृत, फारसी आदि सात आठ भाषाके जानपनेसे, कुछ ज्ञानीपना नहीं आ जाता, केवल भाषा पंडित कहलाता है। जो अध्यात्मशास्त्रका ज्ञाता हो, तथा उसका अनुभवी हो, और स्याद्वादतासे आत्म सत्ताको ध्याता हो, वोही ज्ञानी जानना। आत्मज्ञानीको आश्रवके हेतुभी संवर भावसे परिणमन हैं, और अज्ञानीको संवरके हेतुभी आश्रव भावसे परिणमते हैं। ज्ञानीकी क्रिया सफल होती है। ज्ञानी श्वासोश्वासमें क्षय करता है। वह अज्ञानी कोटी भवमें तपश्चर्यासेभी जो कर्मका क्षय कर सक्ता नहीं। ज्ञानीको जो सुख होता है वह ज्ञानीही जानता है। वाणीसे अगोचर ज्ञानीका सुख है। वास्ते वैसे प्रकारका सुख प्राप्त करनेका प्रयत्न करना।

स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि, न नाशोऽस्ति यथात्मनः ॥
तथा जागर दृष्टेपि, विपर्यासो विशेषतः ॥१०१॥
सुपन दृष्टि सुख नाशते, ज्यूं दुःख लहे न लोक॥
यागर दृष्ट विनष्टमे, त्यूं बुधकुं नहीं शोक ॥८५॥

विवेचनः-स्वप्नावस्थामें दृष्ट जो शरीरादि उसका नाश होते, जैसे आत्माका नाश नहीं होता वैसे-उस मुताबिक जाग्रत् दृष्ट जो शरीरादि उसका नाश होते, आत्माका नाश नहीं

होता । कोई ऐसा कहे कि, स्वप्न दशामें भ्रान्तिको लेके आत्माकाभी नाश मालुम हो? ऐसी शङ्का करनेवालेको उत्तर कि, वह बाततो जागृत्कोभी समान है । क्यों कि, जिसको भ्रान्ति नहीं, वैसा कोइभी पुरुष शरीरके नाशसे, आत्माका नाश हो, ऐसा मानेही नहीं । वास्ते उभयत्र आत्माका नाश घटता नहीं । जागृत् और स्वप्न ये दोनों हालतमभी आत्मा अविनाशी नित्य वर्तता है । फिर कहते हैं कि, स्वप्नमें देखे हुए पदार्थके नाशसे, ज्ञानीको शोक–दुःख नहीं होता । अब दूसरी आत्माकी चार अवस्थाए है, वह कहते है । (१) निद्रावस्था (२) स्वप्नावस्था (३) जागृत् अवस्था (४) उजागर अवस्था । उसमें भव्य तथा अभव्य संसारी जीवोंको निद्रा तथा स्वप्न ये दो अवस्था हो, वैसेही भव्यका भव्यत्वपनेका परिपक्व काल तेराँवे गुणठाणे हो, तब ये दोनों अवस्थाका नाश होता है, और जागृत् अवस्थाकी प्राप्ति होती है । तथा चौदवे गुणठानेके अन्तसे सिद्धको उजागर दशा होती है । एवं आनंदघन चोवीसीमें मल्लिनाथजीके स्तवनमें है । वैसे फिर अन्य चार अवस्था कहते हैं । प्रथम वहु रामल अवस्था; वे घोर निद्रारुप जानना । दूसरी शयन अवस्था, वे चक्षु–आंख मिंचनरुप जानना । तीसरी जागृत अवस्था वे जागनेरुप जानना, और चोथी वहु जागरण अवस्था जानना । ये चाँर अवस्थामें गुणठाणे वताते हैं । वहु शयन अवस्था वे पहिले,

दूसरे और तीसरे गुणठाणे जानना । दूसरी शयन दशा वे चौथे, पांचवे व छठवें गुणठाणे जानना, और तीसरी जागरण अवस्था ये सातवे, आठवे, नवमे, दशमे, अग्यारवे व बारवें गुणठाणे जानना । चौथी बहु जागरण अवस्था व, तेरांवे व चौदावें गुणठाणे जानना । श्री पद्मविजयजी महाराज ऐसा स्वार्थमें कहते है । विशपतो बहुश्रुत जीवने नयचक्रमेंसे देख लेना । ये भावार्थ प्रसंगानुसार लिखा है । अब मूल विषयपर आवें । सब अवस्थाओंमें आत्मा नित्यपने वर्तता है । कोईभी हालतमें आत्मा नाश नहीं होता । वास्ते आत्माकी मुक्तिके महा कष्ट उठानेकी आवश्यकता नहीं ? केवलज्ञान भावना मात्रसेही मुक्ति होगी ? ऐसी शंका करनेवालेको कहते हैं ।

अदुःख भावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःख-सन्निधौ ॥
तस्माद्यथाबलं दुःखै, आत्मानं भावयेन्मुनिः॥१०२॥

सुख भावित दुःखपायके, क्षय पावे जगज्ञान ॥
न रहे सो बहु तापमे, कोमल फूल समान॥८६॥

विवेचनः—अदुःख माने कामकष्टादि दुःखके विना जो भावित अर्थात् एकाग्रतासे पुनः चित्तमें धारण किया हुआ ज्ञान, क्षयको प्राप्त होता है । ये ज्ञान कब क्षयको प्राप्त होता है ? तो कहते हैं कि, जब दुःख प्राप्त हो तब । शरीर भिन्न

आत्मा है, ऐसा शातावेदनीयके योगसे भावित ज्ञान, दुःखके वक्तमें टिक सकता नहीं। उसपर दृष्टान्त देते हैं कि, बहुत धूपमें कोमल कुसुम-पुष्प अवश्य करमा जाता है; वैसे सुख भावित ज्ञान दुःख पडते न रहे। वास्ते अपनी शक्ति अनुसार दुःख सहन करते जाना। अनेक प्रकारके कष्ट तथा परिसह सहन करने, यथाशक्ति कष्ट। भावित आत्मज्ञान अनेक प्रकारके कष्ट प्राप्त होतभी टलता नहीं। वे बताते हैं।

दुःख परितापें नवि गलै, दुःख भावित मुनिज्ञान॥
वज्रगले नहीं दहनमें, कंचनके अनुमान ॥८७॥
तातें दुःखसुं भाविये, आप शक्ति अनुसार ॥
तो दृढतर हु थई उल्लसे, ज्ञान चरण आचार॥८८॥

विवेचनः—दुःखके परितापसे दुःख भावित मुनिवरका ज्ञान नहीं गलता। जैसे अग्निमें वज्र डालते विगलता नहीं वैसे—तथा जैसे कंचन आगमें डालते, अपना मूल स्वरुप छोडता नहीं, उलटा अच्छा होता है, और मैल दूर होता है, वैसे अनेक प्रकारके परिसहरूप अग्निसंयोगसेभी सुवर्ण समान मुनिवर अपना स्वरूप नहीं छोडते। उलटा उनोंका मान बढता है। वास्ते अपनी शक्ति अनुसार शरीरादि कष्ट सहन करके, आत्माकी भावना कि, जिससे मृत्यु समयमें शरीरमें

बहुत वेदना होतेभी आत्मभान न भूले ? और आत्माका उपयोग स्थिर रहे, ऐसा धैर्य प्रगटे, ऐसा करनेसे ज्ञान वे चारित्रका दृढ भाव होता है ।

प्रयत्नदात्मनो वायु, रिच्छा द्वेष प्रवर्तितात् ॥
वायों शरीर यंत्राणि, वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥१०३॥

विवेचनः—जो आत्मा शरीरसे निरंतर भिन्न है, तो उसके चलनेसे शरीर क्यों चलायमान होता है ? और उसके खडे रहनेसे शरीर खडा रहता है, वे कैसे ! ऐसी शंका करनेवालेको इस श्लोकद्वारा प्रत्युत्तर देते है ।

आत्म संबंधी प्रयत्नसे शरीरमें वायु उत्पन्न होता है । वायुके स्थान भेदसे पांच भेद होते हैं । हृदयमें प्राणवायु है, गुदामें अपान वायु रहता है, नाभि मंडलमें समान वायु वर्तता है, कंठ देशमें उदान वायुका निवास है, और सब देहमें व्यान वायु रहता है । आत्म संबंधी प्रयत्न राग और द्वेषसे परिवर्तित है । पूर्वोक्त प्रकारके वायुसे, शरीररूप जो यंत्र वे अपने २ कार्य करनेमें प्रवर्तते हैं । शरीरको यंत्र किस वास्ते कहा, सो कहते हैं । काष्टके बनाये हुए सिंह, व्याघ्रादि यंत्र है, वे पर पुरुषकी प्रेरणासे अपनेको साधनेकी अनेक प्रकारकी क्रिया करते हैं । वैसेही शरीरभी करता है । अर्थात् दोनोंमें परस्पर

तुल्यता है। ऐसे जो शरीर यंत्र उनोंका आत्मामें आरोप तथा अनारोप करके जड मनुष्य तथा विवेकी पुरुष क्या करते हैं सो श्लोकद्वारा वताते हैं।

तान्यात्मनि समारोप्य, साक्षाण्यास्ते सुखं जडः॥
त्यक्त्वारोपं पुनर्विद्वान्, प्राप्नोति परमं पदं॥१०४॥

विवेचनः—इन्द्रियो साथ शरीरोंको वहिरात्मा आत्मामें आरोपता है, और मैं गोराहुं, मैं काला हुं, मैं सुलोचन हुं, इत्यादि अभेदाध्यवसाय मानता है, और जड असुखकोभी सुख समजके, इस प्रकार वर्तता है। परन्तु जो भेद ज्ञानी आत्मा है, वे तो आरोप माने शरीर, मन, वाणीमें मानी हुई जो आत्मवुद्धि उसका त्याग करके, आत्मामेंही. आत्मपनेका निर्धार करके, स्वस्वभावमें खेलके, और परस्वभावको छोडके मोक्षपद पाता है।

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहं धियंच॥
संसार दुःख जननी जननाद्विमुक्तः॥
ज्योर्मयं सुख मुपैति परात्म निष्ठ॥
स्तन्मार्गमे तदधिगम्य समाधितन्त्रम्॥ १०५॥

विवेचनः—जिससे संसार दुःखकी उत्पत्ति हो, ऐसी अन्यमें आत्मवुद्धिं, और अहंताकी मति, उसका त्याग करके,

-संसारमेंसे विशेष प्रकार मुक्त भये हुए, और परमात्म स्वरुपके संवेदक, ऐसा ज्योतिमय सुख पाता है, उसकाही मार्ग आत्म समाधि तत्र जानना, वह है । बहिरात्म और परमात्म यह तीन प्रकारके आत्माओंका ग्रंथमें प्रतिपादन किया है । परमात्म फल साध्य है, और अन्तरात्मा साधन है बहिरात्मा त्याग करने योग्य है । जो भव्य ये ग्रंथ जानके स्वस्वरुपका सद्ध्यान करता है, वह परमात्म पदको प्राप्त करता है ।

रनमें लरते सुभट ज्यूं, गिनै न बान प्रहार ॥
प्रभु रंजनके हेत त्यूं, ज्ञानी असुख प्रचार ॥८९॥
व्यापारी व्यापारमें, सुख करि माने दुःख ॥
क्रिया कष्ट सुखमें गिने, त्यूं वंछित मुनि सुख॥९०॥

विवेचनः—रणमें लडते हुए सुभट बाणके प्रहार गिनते नहीं, और युद्धमेंसे जाते नहीं, वैसे आत्मारुप प्रभुका शत्रु कर्म, उसके साथ लडते ज्ञानी दुःखको गिनते नहीं । अपना आत्मरुप प्रभु उसका रंजन कब होता है कि, जब मोहादिक शत्रू भाग छुटे, और आत्माका तीन भुवनमें विजय हो, तब आत्मारुप प्रभु राजी होता है, और जब आत्मप्रभु राजी हुए, तब अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत चारित्ररुप रत्नत्रयीका लाभ देते है । वास्ते दुःखभी सहन करके मोहादिकका पराजय करना । अपने स्वरुपमें एक ध्यानसे खेलते सहजही सर्व

कर्मका क्षय होना है। ये एक मोक्षमार्गकी गुप्त चावी (key) है। जो मनुष्य मोह नाश करना, मोह नाश करना, ऐसा कहा करता है, और अपने स्वभावमें खेलता नहीं, वे मोक्ष नहीं पा सक्ते। विना अपने स्वभावमें खेले, तीन कालमेंभी मुक्ति नहीं होती; ऐसा सिद्धांत है।

जैसे वेपारीको वेपार करते अनेक प्रकारके दुःख होते हैं, वह उसकोभी सुख करके मानता है। वैसे सुखको चाहनेवाले मुनिराजभी क्रिया कष्टको दुःख उनको सुख करके मानते हैं। चारित्रमार्ग पालते, अनेक प्रकारके परिसह—कष्ट पैदा हो, तोभी मुनिराज वे सहन करते है। अपने आत्माको भली प्रकार स्वस्वरूप भावनासे भावते हैं। संसारको मोहजालमें फँसते नहीं। फिर मुनिराज जानते है कि, यह दुनियादारी स्वप्न समान मिथ्या—झूठ है, तो मैं उसमें कैसे मग्न होउं? दुनियादारी कभी किसीकी हुई नहीं, और होगीभी नहीं। वास्ते संसारकी सब बाजी है; वे बाजी समान झूठ है। केवल एक अलख ऐसा आत्मा है, वे सत्य है, और वे आत्मस्वरूप में हूं। मैं मेरे आत्माके ज्ञानस्वरूपमें मस्त हूं, मुझे अन्य किसीसे यारी नहीं, अन्य कोई मेरी भला कर सकनेवाला नहीं। सवव कि, मेरा भला—श्रेय करनेवाला मैं स्वतः ही हुं। कर्म जो शातावेदनीय वा अशातावेदनीय रूप फल दे तो,

जहांतक कर्मके संबंधमें हुं, वहांतक भोगना पडेगा। परंन्तु अब मुझे कर्मकोभी यारी नहीं है। सबब कि, कर्म ये जड है, और जड रुप कर्मके योगसेहो मैं दुःखी होता हुं। तो उसका संग्रह अब कैसे करुं? उसकी दोस्तीमें कुछ सार नहीं। अनादिकालसे एकेन्द्रियादि गतिमें, अनंतवार मैं कर्मके योगसे भटका, और दुःखी हुआ, अब जान बूझके कर्मकी मित्रता-यारी कैसे करुं? अलबत नहीं करुं। अब मैंने मुनिपद अंगिकार किया; उससे अब मोक्ष साधक बना हुं। गृहस्थावास, धन, स्त्री, कुटुंब छोडके अणगार हुआ, तो अब मुझे सिवा एक मोक्षके दूसरो किसो जातको स्पृहा नहीं। बडे बादशाहकीभी मुझे परवाह नहीं है। जगत्का बादशाहतो कर्मराजाका दास है, उसको मैं कैसे परवाह रखुं! वह मुझे क्या देनेवाला है; निंदक जन निंदा, वैसे दोषी पुरुष दोष देखो, तोभी उससे मुनिराजको कुछ नहीं। जैसा तुमारा, वैसे तुम मायाके संगी, और मायाको भीख मागनेवाले संसारी जीव समजो; उससे कुछ आत्महित होता नहीं। तात्पर्य कि, संसारी जीव मुनिराजको भिक्षुक समजे, पागल समजे, तोभी उससे मुनिराजका कुछ नुकसान नहीं है। गृहस्थावासमें और मुनिपदमें जमीन और आकाशका अंतर है। मुनिपद बडा है, ऐसा तीर्थंकर भगवान्ने कहा है। परमात्मपद लक्ष्मीरुप मिलना किसीकी सहचारी नहीं है। जो चारित्ररुप प्रयत्न करे, वे वह

परमात्म लक्ष्मी पावे । मुनिराज निन्दा स्तुतिके वचनोंसे चलायमान नहीं होते । संसारी जीव चाहे जैसा बोले, तो वे हिसाबमें गिनते नहीं । संसारी जीवोंकी कैसी स्थिति-हालत है, वे श्री यशोविजयजी उपाध्याय पदद्वारा कहते है ।

पद.

देखो भाई महा विकल संसारी, दुःखित अनादि मोहके कारण॥
राग द्वेष भ्रम भारी ॥ देखो भाई० ॥१॥
हिंसारंभ करत सुख समजे, मिथ्या बोल चतुराइ ॥
परधन हरत समर्थ कहावे, परिग्रह बधत बडाई ॥ देखो०॥२॥
वचन राखे काया दृढ राखे, मिटे न मन चपलाइ ॥
याते होते औरकी ओर, शुभकरणी दुःखदाई ॥ देखो० ॥३॥
जोगासन करे पवन निरोधे, आतम दृष्टि न जागे ॥
कथनी कथत महंत कहावे, ममता मूल न त्यागे ॥देखो० ॥४॥
आगम वेद सिद्धांत पाठ सुने, हिये आठ मद आणे ॥
जातिलाभ कुल बल तप विद्या, प्रभुता रूप बखाने ॥देखो०॥५॥
जडसुं राचे परमपद साधे, आतम शक्ति न सूझे ॥
विनय विवेक विचार द्रव्यको, गुण पर्याय न बूझे॥देखो०॥६॥
जसवाले जस सुनि संतोषे, तपवाले तप शोषे ॥
गुणवाले परगुणको दोषे, मतवाले मत पोषे ॥ देखो० ॥७॥
गुरु उपदेश सहज उदयागत, मोह विकलता छूटे ॥
श्रीनयविजय सुजस विलासी, अचल अक्षयनिधि लूटे ॥देखो०॥८॥

पदका अर्थ सुगम है । उपाध्यायजीने संसारी जीवोंकी, जैसी स्थिति है वैसी वर्णन की है । मुनिराजकी पदवी सबसे श्रेष्ठमें श्रेष्ठ है। वास्ते उस पदके वास्ते परमात्माको ग्रहण करना चाहिये, और मुनिव्रतता अंगिकार करके सर्व प्रकारके कष्ट, जो आवे वह सहन करना । ऐसे मुनि परम मुक्तिके सुख पाते है । फिर ऐसी योगी अवस्था ग्रहण करना कि, जिससे सदाकाल सुख प्राप्ति हो । उस संबंधी श्री विनयविजयजी उपाध्याय गाते है कि:—

पद.

जोगी ऐसा होय फिरुं, परम पुरुषसे प्रीत करुं, औरसे प्रीत हरुं ॥ जोगी ऐसा होय फिरुं ॥१॥
निरविषयकी मुद्रा पहेरुं, माला फेरुं मेरा मनकी ॥
ज्ञान ध्यानकी लाठी पकडुं, भभुत चढावुं प्रभुगतकी ॥जोगी०॥२॥
शील संतोषकी कंथा पहेरुं, विषय जलावुं धुणी ॥
पांचु चोर फरी पकडुं तो, दिलमें नहीं चोरी हुणी ॥जोगी०॥३॥
खपर लेउ में खिजमत फेरी, शब्द शींगी बजाऊं ॥
घट अन्तर निरञ्जन बैठे, वासु लय लगाऊं ॥जोगी०॥४॥
मेरे गुरुने उपदेश दीया है, निरमल जोग बतायो ॥
विनय वदे में उनकुं ध्यावुं जिणे शुद्ध मार्ग बतायो ॥ जोगी० ॥ ५ ॥

ऐसी योगीकी हालत मोक्षपदको देनेवाली है। पदका अर्थ सुगम है। विस्तारके भयसे लिखा नहीं। ऐसी हालतको प्राप्त करनेवाला अनंत आनंदका अनुभव क्षण २ में करता है। मुनिवर ज्ञान ध्यानमें रमण करते अखंड सुखका अनुभव पाते है। संयम मार्गमें मेरु समान धैर्य धारण कर वर्तते है।

क्रियायोग अभ्यास है, फल है ज्ञान अबंध ॥
दोनुंकूं ज्ञानी भजै, एक मति त अंध ॥ ९१ ॥

योगाभ्यासरूप क्रिया है, और अबंध ऐसा ज्ञानरूप फल जानना। ज्ञानी ज्ञान और क्रिया उभयका आदर करते है, ज्ञान और क्रिया ये दोनोंमेंसे एकको भजे, वह अज्ञानी है। ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः ज्ञान और क्रिया ये दोनोंसे मोक्ष है। कहा है कि:—

परस्परं कोऽपि योगः, क्रिया ज्ञान विशेषयोः ॥
स्त्रीपुंसयोरिवानन्दं, प्रसूते परमात्मजः ॥ १ ॥
भाग्यं पंगूपमं पुंसां, व्यवसायोन्ध सन्निभः ॥
यथा सिद्धिस्तयोर्योगे, तथा ज्ञान चरित्रयोः ॥२॥

ज्ञान और क्रिया ये दोनोंसे मोक्षकी उत्पत्ति होती है। इसस्थानपर मोक्षमार्गके अभिमुख करनेवाली ध्यानरूप क्रिया

जाननी। आर्तध्यान और रौद्रध्यानका त्याग करना। रागद्वेष रहित होके, अन्तरमें उपयोग रखके जो क्रिया की जाय ये सफल होती है। ज्ञानका महिमातो अनंत है। पहले ज्ञान और पश्चात् क्रिया जानना। सिवा ज्ञानक आत्मस्वरूप, क्रिया स्वरूप भी जाननेमें नहीं आता। तो पीछे अज्ञानी सम्यक् क्रिया किस प्रकार कर सके ? अलबत अज्ञानी सम्यक् क्रिया नहीं कर सक्ता, सूत्र मुखसे गोख गया, और सब सूत्र मुख पाठ कर गया, परंतु उसका भावार्थ जानके आश्रवका त्याग और संवरका आदर नहीं किया, वहां तक केवल वह शूक पंडित समान जानना। जैसे एक गृहस्थके घर एक शूक था, उसको भली प्रकार बोलते सिखाया। वह बोलनेमें बहुत वाचाल हुआ, सूवेके मालिकने विचारा कि, कोई दिन समय देखके बिल्ली सूवेको मार डालेगी. वास्ते इसको एक सूत्र सिखाना कि, जिससे ये मर न जाय। सूवा जिस पींजरमें रहता था, उसमें ऐसी व्यवस्था थी, पींजरेके उपरके हिस्सेमेंसे वह निकल सके। और उसको ये सूत्र शिखाया कि, "बिल्ली आवे तब भाग जाना" ये पाठ सूवेने कंठस्थ कीया, परन्तु उसका भावार्थ न समजा। एक रोज सचमुच बिल्ली आई। सूवा उसको पहचानता था। बिल्लीने झड़प मारके, पोपटको पकड़ा तो भी वे पुकारने लगा कि, "बिल्ली आवे तो भाग जाना"। अखीरमें मर गया। वैसे अनेक प्रका-

रके सूत्र कंठस्थ कर लिये, उसका भावार्थ समझनेमें न आवे तो पोपटकी हालत होती है। वास्ते भावार्थ रूप ज्ञान वही ज्ञान समझना। जो कुछ धर्म करनेमें आवे, यदि उसका भावार्थ न समझनेमें आया तो की हुई क्रिया फलदायक नहीं होती। कहा है की:—

कथा पुराणी बहु करेरे, राम राम कीर जपे ॥
परमारथ पामे सो पूरा, नहीं वळे कांई गपे ॥
शूरानी गति शूरा जाणेरे, त्यां तो कायर थरथर कंपे ॥

वैसे एकेला शुष्क ज्ञानभी आत्म हित कर सक्ता नहीं। ज्ञान और क्रियामें बडा अंतर है। श्रीयशोविजयजी उपाध्याय कहते हैं कि :—

खजुआ सम क्रिया, कही नाण भाण सम जोय ॥
कलियुग एह पटेतरो, बिरला बूजे कोय ॥

विवेचनः—खजूरेके समान क्रिया है, और ज्ञान सूर्य समान है। कलियुगमें इतना अन्तर कोई विरला ही जानता है। जो विना ज्ञानके वल वाह्य क्रियामें हठ करके मग्न है। उनोंको उपाध्यायजी उपालंभ देते हैं, और कहते हैं कि:—

नाण रहित हित परिहरी, अज्ञानज हठ मातारे ॥
कपट क्रिया करता यति न हुये, निज मति मातारे
॥ श्री जिन० ॥ १ ॥

कपट न जाणेरे आपणो, परना गुह्य ते खोलेरे ॥
गुणनिधि गुरु थकी बाहेरा, विरलो निज मुख बोलेरे
॥ श्री जिन० ॥ २ ॥
बहुविधि बालक्रिडा करे, ज्ञान रहित जे टालेरे ॥
ज्ञत जिम अंध अदेखता, ते तो पडिया छे धोलेरे ॥श्रीजिन०॥३॥

ज्ञानका ऐसा अद्भुत महात्म्य है । वह जानके ज्ञानाभ्यास करना, आत्मज्ञान कोही ज्ञान जानना । शेप सब अज्ञान है । विना आत्मज्ञानके जीव क्या ग्रहण करे, व क्या छोडे । उसका विचार करो । वास्ते जीवादिक नवतत्व जानके, आत्म तत्त्वका ग्रहण करना, और आश्रवसे आत्मा छुटे, ऐसी जो आत्मा भावमें प्रवृत्ति करना, उसको ही चारित्र जानना, और वही क्रिया जानना। ऐसा सम्यग ज्ञान और सम्यगक्रियाका आदर करना । ज्ञानीकी निन्दा व ज्ञानकी आशातना न करना । जैन धर्म धुराकी गति विना ज्ञान नही है । विना ज्ञानके शासन नहीं चल सक्ता। वास्ते आत्मा ज्ञानका खप करना हितकर है।

इच्छा शास्त्र समर्थना, त्रिविध योग है सार ॥
इच्छा निज शक्ति करी, विकल योग व्यवहार ॥९२॥
शास्त्रयोग गुणठाणको, पूरन विधि आचार ॥
पद अतीत अनुभव कह्यो, योग तृतीय विचार ॥९३॥

योग अभ्यास रूप क्रिया मोक्ष साधक है । वास्ते उसका स्वरूप बताते है । योग शब्दसे मन, वचन और कायाके योगका ग्रहण होता है तथा यमनियमादि अष्टांग योगका ग्रहण होता है, तथा आत्माके साथ आविर्भाव रूपसे ज्ञान, दर्शन और चारित्रका जो सम्मेलन, उसको योग कहते है । यहांतो पातञ्जल ग्रंथानुयायि तीन योग कहे हैं । उसको ग्रहण करना । अब तीन योगके नाम कहते हैं । १ इच्छायोग, २ शास्त्रयोग, ३ सामर्थ्य प्रतिज्ञायोग ।

१ इच्छा योग तथा विध ज्ञाना वरणीयादि कर्मोके क्षयोपशम विशेषसे, श्रवण किये हुए श्रुतका अर्थ लेके जो करना चाहे उस पुरुषके अंतःकरणमें सूत्रार्थका इच्छकपना हो, किंतु यथार्थविबोध न हो, वे इच्छा योग ।

२ शावज्ज योग, तत्त्व स्वरूपका श्रद्धावंत, तथा यथार्थ स्वरूपसे राजकथा, भक्तकथा, देशकथा, और स्त्रीकथाका त्यागी, तथा प्रमाद रहित धर्म व्यापार योगवंत, तथा तीव्रज्ञानसे अवितथ भाषण करनेवाला, तथा तथाविध मोहनीयके नाशसे सत्य प्रतीतिवंत, ऐसा तथा कालादिविकल्पनेकी बाधासे, अतिचारादि दोष जानेतो सही, परंतु तथा प्रकारसे लगते हुए दोषोको नहीं टाल सकता, ऐसा जो पुरुष उसको यथायोग्य गुणठाणे वर्तते, शास्त्रयोग होता है ॥

३ शास्त्रमें बताये हुए जो उपाय उसका अतिक्रमण करके शक्तिके अधिकपनेसे धर्म व्यापारयोग ग्रहण करे, वे सामर्थ्य योग जानना। सिद्धिपद प्राप्तिके विशेषण इसमें बहुत है। सामर्थ्य योगसे सर्वज्ञपद प्राप्ति, सिद्धिपद सौख्य प्राप्तिसे सकल प्रवचन परिज्ञा प्राप्ति होती है। इत्यादि सबका साक्षात् लाभकारी, ये तीसरायोग जानना। ये तीनों योगका विचार योग दृष्टि समुचय ग्रंथसे जानना॥

रहे यथा बल योगमें, गहे सकल नय सार॥
भाव जैनता सो लहे, चहै न मिथ्या चार॥ ९४॥
मारग अनुसारी क्रिया, छेदे सो मति हीन॥
कपट क्रिया बल जगठगे, सो भी भवजल मीन॥

विवेचनः—यथाशक्ति योगबलमें रहके, जो सकल नयका सार ग्रहण करता है, वे मिथ्याचारको नहीं चाहता। और वे ही भाव जैनता पाता है। नाम जैन, स्थापना जैन, द्रव्य जैन, और भाव जैन जिसमें भाव जैनता मुखस्थानरूप है। वह पूर्वोक्त लक्षण लक्षित जीव पाता है।

मोक्ष मार्गके अनुसार, मोक्ष मार्गमें स्थिति करानेवाली क्रियाका छेद जो करता है, वह जीव मतिहीन जानना। वैसे ही कपट क्रियाके बलसे जगतको ठगता है, वह भी संसार समुद्रमें मत्स्य समान परिभ्रमण करता है। कपटमें जो जो

क्रिया करनेमें आती है, वे निष्फल जाती है। जहां तक मनमें कपटरूप कालानाग बैठा हुआ है, वहां तक वहां धर्म प्रवेश नहीं कर सक्ता। जहांतक मनमें कपटरूप अग्नि है, वहांतक हृदयमें धर्मके अंकुर उग नीकलते नहीं। क्रियारूप चंद्रकाप्राप्त करनेमें कपट राहुके समान है। ज्ञानरूप पहाडको तोडनेमें वज्र समान है। कामरूप अग्निकी वृद्धि करनेमें घी समान है। व्रत रूप लक्ष्मीका चोर भी दंभ ही है। एक एक माहके उपवास करे, और नग्न रहे, तोभी जहां तक मनमें कपट है, वहांतक तप, जप, सब निष्फल जानना, । केश लुंचन करना, भूमि उपर सोना, भिक्षा माँगनी और शीलव्रतादिक पालने सहेल है। परन्तु कपटका त्याग करना वहुत दुष्कर है जो अपने आत्माकी प्रशंसा करे, वडाई करे, वहुत कपट करे, और अन्यके दूषण लोकोके सामने कहे, उन पुरूषकी धर्मक्रिया सफल नहीं होती। वास्ते निर्दंभ क्रिया भली प्रकार अन्तरमें उपयोग रखके करना तद्धेतु और अमृत शाश्वत सुख उत्पन्न करने वाली है। वास्ते क्रियाका अवलंवन करके आत्माका हित साधना।

निज निज मतमें लरि परे, नयवादी वहु रंग ॥
उदासीनता परिणमै, ज्ञानीकूं सरवंग ॥ ९६ ॥
दोउं लरै तिहां एक परै, देखनमें दुःख नाहीं ॥
उदासीनता सुख सदन, पर प्रवृत्ति दुःख छांही ॥ ९७

विवेचनः—एक २ नयके पक्षग्राही वादी, अपने २ मतमें परस्पर खंडन मंडन करके लड़ मरते है। उन नयवादीओंका झगड़ा देखके ज्ञानीके सर्वागमें उदासीनता परिणमती है। अहो ! विचारे एक एक नयके पक्षाग्रहसे अन्य नयोंके कथनका खंडन करते हैं। और अपने इन्छित नयोंका प्रतिपादन करके पक्षपातमें पड़ते है। दो वादी लड़े वहां एककी हार तो होने वालीही है। उनको देखते दुख नहीं। परन्तु उसमें प्रवेश करके नय हठ कदाग्रह करनेसे दुःख होता है। ज्ञानी ऐसा नयवादीओंका स्वरूप जानके, उदासीन भावसे रहता है। उदासीनता कैसी है, सो कहते है कि, सुख सदन अर्थात सुखका घर, और अन्यमें प्रवृत्ति करना, वे दुःखकी छाया है। वस्तुगतसे वस्तुस्वरूप प्राप्त होते ज्ञानीको वाद विवाद नहीं रहता।

उदासीनता सुरलता, समता रस फल चाखि ॥

पर पेखनमें मत परे, निजमें गुण निज राखे ॥ ९८ ॥
उदासीनता ज्ञानफल, पर प्रवृत्ति है मोह ॥
शुभ जानोसो आदरो, उदित विवेक प्ररोह ॥ ९ ॥

भावार्थः—उदासीनता वह सुरवेली है, उसका फल समता रस रूप जानना। उदासीनताका सेवन करके, समता फलके रसका आस्वाद हे भव्य तुं ले। समता फल रसके आस्वादनमें तुं अनंत सुख पावेगा वास्ते हे भव्य। अपने स्वभावमें रमण

कर, अन्य देखनेमें न पड़ना। उदासीनताही ज्ञानका फल है, और परमें प्रवृत्ति करना वे ही मोह है। उदित, विवेक, प-रोह जिसको है, ऐसे भव्य जनो! दोनोंमेंसे अच्छा जानो, उसका ग्रहण करो।

दोधिक शतके उधर्युं, तन्त्र समाधि विचार,
धरो एह बुध कंठमें, भाव रतनको हार,
ज्ञान विमान चारित्र, पविनंदन समाधि ॥
मुनिसुरपति समता रची, रंगे रमे अगाध ॥ १०१ ॥
कवि जशविजये ये रच्यो, दोधिक शतक प्रमाण ॥
एह भाव जो मन धरै, सो पावै कल्याण ॥ १०२ ॥

विवेचनः—समाधिशास्त्रका उद्धार दोधक छदसे उद्धार है। यह भाव रत्नका हार, पंडित पुरुषो कंठमें धारण करो? भाव रत्न आत्माके गुण जानने के लिये, इस मुताबिक ज्ञानीवंत मुनि, अध्यातम भावमे रमण करते, इंद्र समान सुख भोगवते हैं। यहां इद्रकी तुल्यता वताते है।

ज्ञानरूप विमानमें मुनिराज बैठते हैं। इन्द्रके हाथमें वज्र रहता हे, वैसे मुनिराज रूप इन्द्रके हाथमें चारित्र रूप वज्र है। जैसे इन्द्र वज्रसे पर्वतोंको तोड छेद डालता है, वैसे मुनिराज रूप इन्द्र चारित्ररूप वज्रसे, कर्मसे आठ पर्वतोंको छेदते हैं। जैसे इन्द्रको रमण करनेके लिये नंदनवन है, वैसे

इन्द्र समान मुनिराज भी सहज समाधिरूप नंदनवनमें आनंद करते हैं, जैसे इन्द्रको पट्टराणी है, वैसे मुनिरूप इन्द्रको समतारूप पट्टराणी है, जो समताकी प्राप्तिसे मुनिराज ममतारूप कुलटाको छोडते हैं, समता संयम नृपतिकी पुत्री है, ममता मोह चंडालकी बेटी है, समताका अद्भुत स्वरुप है। यह उपाध्यायजी पदद्वारा कहते है।

पद

चेतन ममता छांड परीरी, पर रमणीशुं प्रेम न कीजे ॥
आदर समता आप वरीरी ॥ चेतन० ॥ १ ॥
ममता मोह चंडालकी बेटी, समता संजम नृप कुमरीरी ॥
ममता मुख दुरगंध असती, समता सत्य सुगंध भरीरी ॥
॥ चेतन० ॥२॥
ममतासे लरते दिन जावे, समता नही कोउ साथ लरीरी ॥
ममता हेतु बहुत है दुस्मन, समताको कोउ नहीं अरीरी ॥
॥ चेतन० ॥ ३ ॥
ममताकी दुरमति है आली, डायण जगत अनर्थ करीरी ॥
समताकी शुभमति है आली, पर उपगार गुणसे भरीरी ॥
॥ चेतन० ॥ ४ ॥
ममता पुत भये कुल खंपण, शोक वियोग महा मछरीरी ॥
समता सुत होयगा केवल, रहेगो दिव्य निशान घुरीरी ॥
॥ चेतन० ॥ ५ ॥

समता मगन होयगो चेतन, जोतुं धारीश शीख खरीरी ॥
सुजस विलास लहेगो तोतुं, चिदानंदघन पदवी वरीरी ॥
॥ चेतन० ॥ ६ ॥

भावार्थ—इस पदका अर्थ सुगम है। ऐसी समता रूप इन्द्राणीके साथ मुनिरूप इन्द्र सदाकाल अखंड सुख भोगवते है। समताके साथ चेतन रमण करनेसे मग्न होता है। वास्ते हे चेतन ? तुंभी समताकी संगति कर। समता हमेशा अखंड व नव यौवना रहती है। समता चेतनसे कभी रूसती नहीं। वैसे समताकी प्राप्ति होते, चौद राजलोकमें जबभी कभी रूसता नहीं। जो आनंद समताके संगमे चेतनको मिलता है, इसका वर्णन कदापि कालमें नहीं हो सक्ता। समता है वह शुद्ध आतम परिणति है, समताकी प्राप्ति होते, मुक्ति करतलमें है, ऐसा जानना। परमातमपदकी प्राप्ति वही समताका कार्य है।-आतमारूप प्रभु अनादि कालसे रूष्ट हो गया है, और वह असंख्य प्रदेश रमण रूप अपनें घरमें आता नहीं। समतारूप स्त्रीमें ऐसी शक्ति है कि, वह क्षणमें अपने आत्मा रूप स्वामीको मनको अपने घरमें लाती है। जहांतक मनमें ज्ञान वैराग्य प्रगट होता नहीं, वहांतक समता प्रगट होती नहीं ज्ञानसे तत्त्व स्वरूपका विवेक प्रगट होता है, और तत्त्वस्वरूप विवेकसे वैराग्य प्रगट होता है, और वैराग्यके प्रगट होनेसे राग द्वेषकी निवृत्ति होती है। क्षणक्षणमें वैराग्यको धारण करनेवाला

आत्मा स्वस्वरूपके तरफ अंतर दृष्टिसे देखता है। औदयिक भावसे जो भोग, उनोको भोगवते हुए भी अंतरसे रोग करके जानता है। फिर भेद ज्ञानसे औदयीक भावको भोगवते हुए भी, संवर भावमें रमण करनेसे नवीन कर्म ग्रहण करना नहीं फिर उपशम भाव तथा क्षयोपशम भाव व क्षायिक भावसे प्रगट होते, जो आत्माके गुण उसमें रमण करता है। बाह्य जगत्को देखके, उसमें जातीसे स्व स्वरूप भूल जाता नहीं। फिर आत्मानुभव करते हुए, आनंदमें आयुष्य व्यतीत करता है। शाता और अशाता वेदनीयके उदयसे, सुख तथा दुःख हो, तथा यशनाम कर्मोदयसे यश हो, और अपयश नामका कर्म उदयमे आनेसे अपयश हो तो भी समभावसे वैरागी अनुभवी जीव सहन करता है। कहा है कि,

अनुभवीने एकला आनंदमां रहेवुंरे,
सुख दुख आवे त्यारे सम भावे सहेवुंरे,
कोईने कांई न कहेवुंरे ॥ अनुभवी० ॥ १ ॥

शरीरमें रहे हुए आत्माको अनुभवी परमात्मरूपही मानके, श्वासो श्वासमें आत्माका स्मरण करता है। सोऽहं माने ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप रत्नत्रयीका धारक, असंख्य प्रदेशी परमात्मा, वेही मै हूं। ऐसे अजपा जापसे हंस अपने निर्मल स्वरूपको प्रकाशता है। सोऽहं २ इस मुताबिक आत्मध्यान

धरे तो, सहज समाधि भावको आतमा प्राप्त होता है। श्री योग विधाके ज्ञाता श्री चिदानंदजी योगानु भवानु सार, सोऽहं शब्दसे ध्यान करते, आत्माकी जैसी अवस्था होती है, वह पद धारा कहते हैं।

सोऽहं सोऽहं सोऽहं सोऽहं सोऽहं सोऽहं रटना लगीरी ॥सोऽहं॥
इंगला पिंगला सुषमणा साधके अरुण पतिथी प्रेम लगीरी ॥
वंक नाल खट चक्र भेदके, दशमद्वार शुभ ज्योत जगीरी ॥सो. १॥
खुलत कपाट घाट निज पायो, जन्म जरा भयभीत भगीरी ॥
काच शकल दे चिंतामणिले, कुमति कुटिलकुं सहज ठगीरी ॥सो. २॥
व्यापक सकल स्वरूप लख्यो इम, जिम नभमें मग लहत खगीरी ॥
चिदानंद आनंदमय मरति, निरखीत प्रेमभरी बुद्धि भगीरी ॥सो. ३॥

श्री चिदानंदजी महाराजने योग विद्यामें सोऽहं शब्दका जो अजपा जाप बताया है, यहां उसका अनुक्रम बताते है। इडा, पिंगला और सुषुम्णा ये तीन नाडीयां शरीरमें प्रवर्तती है। उसका साधन, वंकनालका स्वरूप, षट चक्र भेदन, तथा दशम द्वारमें आतम ज्योतिका प्रकाश इत्यादि सब भेदोंका स्वरूप विस्तारके भयसे यहां नहीं लिखा है। इस लिये उसका भावार्थ गुरू गमसे धारना। फिर योग विद्याका स्वरूप गुरुगमसे धारना चाहिये। बिना गुरूके तो योगाभ्यासमें प्रवर्तना नहीं। श्री चिदानंदजीने योगके अनुभवसे यह पद रचा है।

इस मुताबिक सोऽहं शब्दके योगसे, आत्मा प्रथम सविकल्प समाधि भावको पाके, अंतमें निर्विकल्प समाधि भवाकी प्राप्ति करता है। आत्माकी उच्च स्थिति प्राप्त करा देनेवाला ज्ञान और वैराग्य है। विना वैराग्य ज्ञान आत्माकी परमात्म दशा प्रगट देनेवाला नहीं है। प्रथम साधन दशामें वैराग्यसे भेदज्ञानकी पुष्टि होती है, और भेद ज्ञानसे स्व पर का भेद मालुम होता है। भेद ज्ञानसे आत्मा संवर भावमें रमण करके सिद्धिपद पाता है। कहा है किः—

भेद विज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन ॥
तस्यैवा भावतो वद्धा, वद्धा ये किल केचन ॥१॥

विवेचनः—जो कोइ आत्मा सिद्ध भये, वे भेदज्ञानके विज्ञानसे। और जो कोइ जीव संसारमें बंधे हुए हैं, वहभी भेद ज्ञानकी विज्ञानता के अभावसे ही जानना। भव्य जीव भेद ज्ञान पाके, अल्प समयमें संसार समुद्रसे तिर जाते हैं। भव्य जीव स्वरूपाभिमुख होके, अध्यात्म भावनामें जीवन व्यतित करता है। अध्यात्म चिंतन, अध्यात्मदशामें रमण, यह श्रेष्ठमें श्रेष्ठ धर्म है। अंतरदृष्टिसे देखते, आत्मिक धर्मही गचमुच श्रेष्ट धर्म मालुम होता है। चर्म चक्षुसे धर्ममार्ग देखने सब संसारी जीव भूले हैं। श्री आनंदघनजी महाराज कहते हैं किः—

चरम नयण करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार ॥
जेणे नयणे करी मारग जोईए रे, नयणते दिव्य विचार ॥
पंथडो निहालुं रे बीजा जिन तणो रे ॥

तात्पर्य यह है कि, अध्यात्मदशाये परम पदका उत्कृष्ट मार्ग है।
अन्यत्रभी कहा है कि:—

यावज्जीव सदाकालं, नये दध्या त्सचिंतया ॥
किंचिन्नावसरं दद्याद्, कामादीनां मानगपि ॥१॥

सदाकाल सब जीवन अध्यात्म चिन्तवनसे व्यति करना, कामादि शत्रुओंके हृदयमें प्रवेश करनेको किंचित् मात्रभी समय न देना, काम तुं दूर हो, क्रोध तुं मेरेसे अलग हो, ऐसा बोलके काम, क्रोधको जो निकालनेको जो प्रयत्न करना, वह झूंठ है। सववकि, केवल ऐसा बोलनेसे, वह दूर नहीं होते। जब आतम अध्यात्म स्वस्वरूपमें रमण करता है, और शुद्ध उपयोगसे आत्मध्यानमें स्थिरता होती है, तब अपने आपही काम, क्रोध, लोभ मोह, मत्सर, मायादि शत्रु भग जाते है। यहांपर दृष्टांत देते हैं कि; जैसे सूर्यका उदय होनेसे, अंधकार अपने आपही नष्ट हो जाता हैं, वैसे आत्मा अध्यात्मभावमें खेलते, रागद्वेषादि शत्रु भग जाते हैं। वास्ते अध्यात्मचिंतवन हृदयमें अविच्छन्न धारासे, करना। अनेक प्रकारके शास्त्रोंका अभ्यास किया हो,

परन्तु जहांतक आत्मस्वरूपमें निष्ठा न हुई, वहांतक सब शाखाभ्यास निष्फल है। जैसे वंध्या गायको घास खिलानेसे दूधकी प्राप्ति नहीं होती, वैसे जिस पुरूपको आत्मस्वरूपकी चाहना न हो, उसकी अनेक प्रकारके शास्त्रोंका अभ्यास, अनेक प्रकारकी भाषाओंका ज्ञानपना, वे सर्व निष्फल है। अपने स्वरूपका साक्षात्कार करने प्रयत्न करना। अन्य द्रव्यसे अर्थात् धर्मास्तिकायादि द्रव्योंसे आत्माको अलग करके, स्वस्वरूपमें रमण करना। श्रीजिनेंद्र भगवान्ने षड्द्रव्य कहे हैं। धर्मास्तिकाय द्रव्य, असंख्य प्रदेशी लोकाकाशमें व्याप रहा है। धर्मास्तिकाय अरूपी है, अचेतन है, अक्रिय है; और चलनेमें सहाय देता, वे उसका धर्म है। दूसरा अधर्मास्तिकाय द्रव्य है, वह लोकाकाश व्यापी असंख्य प्रदेशी है, स्थिर रहनेमें सहाय गुणकर्ता है। अक्रिय अरुपी तथा अचेतन है। तीसरा आकाशास्तिकाय द्रव्य है, वह लोकालोक व्यापी है, और अनंत प्रदेशी है, अरुपी है अक्रिय है, अचेतन है। चोथा पुद्गलास्तिकाय द्रव्य लोकाकाश व्यापी है, और उसमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श गुण रहे हुए है। वे रूपी है, अचेतन है, सक्रिय है। पूर्ण गलन सड़ना, पड़ना, विध्वंसन स्वभाववाला पुद्गल द्रव्य है। पुद्गल परमाणु अनंत हैं। पुद्गल परमाणु इकट्ठे मिलनेसें स्कंध होता हैं, पुद्गल स्कंधके दो भेद है। एक सचित्त पुद्गल

स्कंध, और दुसरा अचित्त पुद्गल स्कंध । उसमें जो स्कंध जीवको लगते हैं, वह सचित्त स्कंध कहलाते हैं, और जीवसे पृथक जो स्कंध हैं, वह अचित्त स्कंध कहलाते है । पांचवा जीव द्रव्य है । जीवके चारित्रादि गुण जानना । लोकाकाशमें व्यापके जीव द्रव्य रहता है, ये अरूपी है, सचेतन है, अक्रिय है, जीव द्रव्य अनंत हैं । जीवके दो भेद हैं । एक ससारी और दूसरे सिद्ध जीव जानना । छट्टा काल द्रव्य हैं, वह उपचारसे द्रव्य जानना । ये द्रव्यमें अनंत गुण पर्याय रहते हैं । उसका विस्तारसे स्वरूप देखना होतो, आगम सारादि ग्रंथ देखना । यहां विस्तार नहीं किया । ये छ द्रव्योंमें आत्मद्रव्य उपदेय है, और शेष द्रव्य हैं, वह हेय माने त्याग करने योग्य है । उसमेंभी धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये तीन द्रव्योंसे आत्माका घात नहीं होता । कर्मरूप जो पुद्गल द्रव्य है, उससे आत्माके गुणका घात होता है ।

शिष्य प्रश्नः—कर्मरूप जो पुद्गल स्कंध हैं, वह तो अचेतन है, वेतो कुछ नहीं समजते, तो वह आत्माके गुणोंका घात किस प्रकार करसके ? फिर कर्म क्या जानता है कि, मैं आत्माको लगुं । वास्ते समजाइयेकि, आत्माको कर्म किस प्रकार लगते हैं ?

गुरुः—हे शिष्य ! एकाग्र चित्तसे श्रवण कर। कर्म दो प्रकारके हैं। एक द्रव्यकर्म और दुसरा भावकर्म ! उसमें द्रव्यकर्म अष्टकर्म स्वरूप है, और रागद्वेष है, वह भावकर्म है। द्रव्यकर्मके बंधमें रागद्वेष कारण है। रागद्वेष है, वह आत्माकी अशुद्ध परिणति है। अनादिकालसे आत्मा रागद्वेषकी परिणतिसे अशुद्ध बना है। अब मूळ विषयपर आके, कहनेका कि, जैसे लोहचुंबकमें ऐसी शक्ति रही है कि, वह सूईको अपनी तरफ खेंचता है। वैसे आत्माकी अशुद्ध परिणतिमें, स्वभावसेही ऐसी शक्ति रही हुई हैकि, वे पुद्गल स्कंधोको खेंचके, कर्म रूपसे परिणमता है। पुद्गल स्कंधभी कर्मरूप परिणमते हैं फिर कहा है कि, पुद्गल स्कंध अचेतन हैं, उससे वह कुछ समजते नहीं, तो यह आत्मा गुनोंका घात किस प्रकार कर सके ? उसके उत्तरमें कहनेकाकि, तालपुट विषके परमाणु अचेतन है, उसमें दुसरेका घात करनेकी समझ (ज्ञान) नहीं है तोभी जो कोइ तालपुट विष (जहर) भक्षण करता है, तो यह तालपुट विषकी शक्तिसे प्राण तुरत छोड देता है, उसी प्रकार कर्मभी अचेतन हैं तोभी वह जिसको लगते हैं, उसके आत्माके गुणोंका आच्छादन करते हैं। उससे आत्मा के गुण तिरो भावसे वर्तते हैं, उससे आत्म गुणोका घात किया, ऐसा कहलाता है। कर्म क्या जानेकी मैं आत्माको लगुं ? उसके उत्तरमें समजनेका कि, कर्मतो अचेतन हैं,

उससे वह कुछ समज सक्ता नहीं। परन्तु लोहचुंबक तथा सूईके दृष्टांतानुसार, आत्माकी अशुद्ध परिणतिमें कर्म खेंचनेकी शक्ति रही है।

अपनी शक्तिसे अशुद्ध परिणति, कर्मके दलिये खेंचके आत्माके साथ आठ कर्म रूपसे परिणमाती है। पुद्गल रूप जो कर्म, वह कुछ अपने आपसे लग सक्ता नहीं। अशुद्ध परिणतिका जब नाश होता है, तब कर्मका ग्रहण नहीं होता। वास्ते कर्मका ग्रहण अशुद्ध परिणतिके सद्भावसे है। तेराँवे गुणस्थानकपर केवलीके कर्मका बंध होता है। वे वेदनीय कर्मका बंध समजना। प्रथम समयमें कर्म लेते हैं, और तीसरे समयमें कर्म नष्ट करते हैं। कोई कहेगा कि, जब तेराँवे गुणस्थानमें कर्मका बंध होता है, तब वहां वर्तते केवलीको अशुद्ध परिणति हो कि, कैसे ? उसके उत्तरमें समाधान कि राग, द्वेष, अज्ञान, प्रमाद और मोहादिकके सद्भावसे अशुद्ध परिणति कहलाती है। केवलीको तेरांवे गुणठाणे वर्तते, राग, द्वेष, मोह, प्रमादादिक दोष नहीं है। अर्थात् केवलीने घातिक कर्मका क्षय किया है, उससे उनोंने अशुद्ध परिणतिका नाश किया है, तब तेरांवे गुणठाणे कर्मका बंध किससे होता है ? उसके उत्तरमें कहनेका कि वहां योगसे बंध होता है। वेदनीय रूप अघाति कर्मका बंध कुछ हिसाबमें नहीं है। उससे कुछ जन्म, जरा, मरणके फेरे प्राप्त नहीं होते।

अशुद्ध परिणतिसे आत्मा कर्म ग्रहण करता है, और जब आत्मा शुद्ध परिणतिका सेवन करता है, तब वह कर्म ग्रहण नहीं करता। भेद ज्ञानसे अन्तरात्मा होते, आत्मा है। अपना शुद्ध स्वरूप सामने होते, कर्मका नाश करके, आत्मा शुद्धपरमात्म रूपसे प्रकाशमान होता है। शुद्ध परिणति और अशुद्ध परिणति भी आत्माकी है। अशुद्ध परिणतिका कर्ता और शुद्ध परिणतिका कर्ताभी आत्माही है। अपने स्वभावमें आत्मा रमण करे तो, शुद्ध परिणतिका कर्ता आत्मा होता है। आत्माही कर्मका कर्त्ता है, और आत्माही कर्मका भोक्ता है। आत्मा कर्मको ग्रहण करता है, आत्मा कर्मका नाश करता है। हे चेतन ! यदि तुं अपने स्वभावमें रमण करे, तो तीन जगत्की लक्ष्मीभी दासी समान होती है। अब सर्व प्रकारकी बाह्य आशाओंको छोडके, अपने स्वरूपका पियासा हो। जिस बाह्य वस्तुकी तुं आशा धरता है, वे बाह्य वस्तु क्षणिक और विनाशी हैं। तेरा स्वरूप अविनाशी है। इस लिये तुं ज्ञानसे अपने स्वरुपका अभ्यासी हो। उस संबंधी श्रीयशोविजयजी पद गाते है कि:—

पद.

चेतन जो तुं ज्ञान अभ्यासी, आपही बांधे आपही छोडे॥
निजमति शक्ति विकासी ॥चेतन०॥१॥
जो तुं आप स्वभावे खेले, आशा छोरी उदासी ॥
सुरनर किन्नर नायक संपत्ति, तो तुज घरकी दासी ॥चे०॥२॥

मोह चोर जन गुन धन लूटे, देत आशमल फांसी ॥
आशा छोर उदास रहे जो, तो उत्तम संन्यासी ॥चेतन०॥३॥
जोग लई घर आश धरत है, याही जगमें हांसी ॥
तुं जाने मैं गुनकुं संचु, गुनतो जावे नासी ॥ चेतन०॥ ४॥
पुद्गलकी तुं आस धरत है, सोतो सबहि विनाशी ॥
तुंतो भिन्न रूप है उनते, चिदानंद अविनाशी ॥ चेतन० ॥५॥
धन खरचे नर बहुत गुमाने, करवत लेवे काशी ॥
तोभी दुःखको अन्त न आवे, जो आशा नहीं घासी ॥चे०॥६॥
सुखजल विषम विषम मृगतृष्णा, होत मूढमति प्यासी ॥
विभ्रम भूमि थई पर आसी, तुंतो सहज विलासी ॥चे०॥७॥
याको पिता मोह दुःख भ्राता, होत विषयरति मासी ॥
भवसुत भरता अविरति प्रानी, मिथ्यामति ए हांसी ॥चे०॥८॥
आशा छोड रहे जो जोगी, सो होवे शिववासी ॥
उनको सुजस बखाने ज्ञाता, अन्तर दृष्टि प्रकाशी ॥चेतन०॥९॥

भावार्थ—सुगम है। श्री उपाध्यायजीकी वाणी गंभीर है। बाह्य आशा धरते, जीव कभी सुखी नहीं होता। झांझवेके जलसमान बाह्य पदार्थ कभी अपने हुए नहीं, और होनेवाले भी नहीं। आशा छोडके जो रहता है, वे योगी शिव नगरीका वासी होता है। ऐसा हृदयमें उपदेश रहस्य समजके, आश्रवके हेतुओंको दूर करना, और संवर भावका सेवन करना।

आत्मध्यानमें सदाकाल प्रवृत्ति करना, निर्विकल्प आत्म स्वभावमें स्थित रहना। रूपातीत ऐसा आत्मध्यान, वे श्रेष्ठमें श्रेष्ठ है, और ध्यानकी प्राप्तीके वास्ते ध्यान प्रधानपनेसे वर्तता है। यम नियम आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारादि अनुक्रमसे पिंडस्थ ध्यानकी सिद्धि होती है। पिंडस्थ ध्यानकी स्थिरतासे रूपातीत ध्यानका अंश अनुभव गोचर हो सके! और उस संबंधी योगिराज श्री चिदानंदजी कहते है कि:-

पद सोरठ राग

आतम ध्यान समान जगतमे, साधन नवि कोऊ आर्न ॥आतम॥
रूपातीत ध्यानके कारण, रूपस्थादिक जाण ॥
ताहुमें पिंडस्थ ध्यान पुन ध्याताकुं परधान ॥ आतम ॥ १ ॥
ते पिंडस्थ ध्यान किम करियें, ताको एम विधान ॥
रेचक पूरक कुंभक शांतिक, कर सुखमन घर आन ॥आ. २॥
प्राण समान उदान व्यान हु, सम कर गहो अपान ॥
सहज सुभाव सुरंग सभामें, अनुभव अनहद तान ॥आ. ॥३॥
कर आसन धर शुचि सम मुद्रा, गहि गुरूगम ए ज्ञान ॥
अजपा जाप सोहं समरन शुभ, कर अनुभव रस पान ॥आ.४॥
आतम ध्यान भरत चक्री लह्यो, भवन अरिसा ज्ञान ॥
चिदानन्द शुभ ध्यान योगे जन, पावत पद निरवान ॥आ.॥५॥

भावार्थः—सुगम है। इस पदके वास्ते पिंडस्थ ध्यानकी सिद्धिके क्रम बताया है। रेचक, पूरक और कुंभक ये तीन प्रकारका प्राणायामकी स्थिति है। इस मुताबिक ध्यान करते जीव मोक्षपदकी प्राप्ति करता है। साध्यपद मोक्षपद है। आत्मा वेदी परमात्मा हैं। आत्माकी परमात्मपद प्राप्तिमें आठ कर्म अंतराय करने वाले हैं। घासकी बड़ी गंजी हो, उसमें किंचित् मात्र अग्नि छोड देवें, तो वह जलके भस्म हो जाती है, वैसे आठ कर्मभी ध्यानाग्निसे जलके भस्म हो जाते है। वास्ते हे भव्यजनो! आत्मध्यानका बहुत खप करना। अन्य भावसे वापस लोटना। आयुष्य स्थितिका विश्वास नहीं है। दुनियाकी कोईभी वस्तु परभवमें साथ आनेवाली नहीं है। ऐसा निश्चयसे मानना राजा, रंक, शेठ, रोगी, आदि सब शरीर छोडके परगति भजनेवाले हुए। आत्मारूप परमात्माका भजन सेवन करलेनां। सारमें सार परमात्माका भजन-सेवन जानना। निश्चय नय हृदयमे धारण करना, और व्यवहार नयसे वर्तना। शब्दनय, समभिरूढ नय और एवंभूत नय वे निश्चयके भेद है, और नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय, रुजुसूत्र नय, ये चार नय हे, वे व्यवहार नयको छोडना नहीं। सिद्धांतमें कहा है किः—

——:×:——

गाथा

जइ जिणमयं पवज्जह तामा ववहार निश्चये मुयह ॥
ववहार नओ छेछेए, तिथ्थु छछेओ जओ भणिओ ॥१॥

यदि जैनमतको अंगिकार करो तो, व्यवहार और निश्चय नयको मत छोडना। व्यवहार नयका छेद करते, तीर्थका उच्छेद हो, वास्ते व्यवहार नयसे होती हुई, धर्मकी प्रवृत्ति छोडना नहीं। व्यवहारका निषेध करना नहीं। साधु, साध्वी श्रावक और श्रावीका रूप तीर्थकी उन्नति, तथा तीर्थकी शोभा उत्पत्ति, व्यवहार नयसे है। व्यवहार नय माता समान है, व्यवहार नयका अवलंबन जीवको हितकर है। विना ज्ञान अकेला व्यवहार मार्गभी हित कारक नही है व्यवहार नय दुद्ध समान है, और निश्चय नय घृत समान है। शुद्ध व्यवहारका आदर करना। धर्म क्रियाओंका अवलंबन करना, प्रभुपूजा, गुरुभक्ति, गुरू वैयावच, गुरू महाराजको शुद्ध आहार, जल अर्पण करना, सकल संघकी भक्ति करना, ज्ञानके पुस्तक लिखवाना, तथा छपवाना, गुरुमहाराजका उपदेश सुनना, जो जो पुस्तक वांचना उसमें गुरूगम लेना नास्तिकोंके संगमें बहुत न आना, श्रावकके बाराव्रत, तथा सर्व विरतिरूप भाग्यवती दीक्षा अंगिकार करना, गुरुमहाराजको तीन काल तीन वार खमासमण, तथा अभुठिओमि

अभिंतरके पाठ सहित वंदन करना, गुरुको देव समान धारना, इत्यादि सब व्यवहारकी करणीका अवलंबन भव्यजीवको करना चाहिये। सबके बजाय मुनिपना अंगीकार करना, ये श्रेष्ठमें श्रेष्ठ मोक्ष मार्ग है। अनेकधा पापकी व्याधियोंका व्यवहार है, वह दीक्षा अंगीकार करनेसे दूर होता है। दीक्षा ग्रहण करके अनेक जीव संसार समुद्रसे तिर गये, और तिर जांयगे। कहां सूर्य। और कहां खजुरा! कहां मेरू पर्वत! और कहां सरसोंका दाना! कहां स्वयंभुरमण समुद्र! और कहां पानीका गड्ढा! कहां इन्द्र! और विष्टाका कीडा! कहां नरक,। और कहां स्वर्ग! कहां चिंतामणी रत्न! और कहां काचका टुकडा! इनोंमें जितना अंतर है, उतना मुनि और गृहस्थमें अंतर है। मुनि होनेकी भावना सदाकाल हृदयमें भावना। " जिसके मनमें मुनि होनेकी भावना भावता नहीं है, वे मनुष्य वीतरागदेवकी वाणीमें श्रद्धालु नहीं, ऐसे समजना। श्री जिनेश्वरके वचनपर श्रद्धा करनी, श्री जिन वचनमें शंका न करना, शुद्ध श्रद्धा रखना, गुरुगम लेके, छ द्रव्योंके स्वरूपका ज्ञान करना, सदाकाल क्षमोपशम ज्ञान द्वारा ध्यान प्रवाहको हृदयमें वहाना, छ द्रव्यका नय निक्षेपे ज्ञान होते निश्चय समकित प्रगट है। वास्ते द्रव्यानुयोगी गीतार्थके चरण कमल सेवना। इस कालमेंभी एकाग्र चित्तसे प्रमाद–आलस–छोडके, आतम

साधन करनेमें आवे तो, अल्प थोडे भवमें मुक्ति माप्त होती है। राग द्वेषकी क्षीणता अध्यात्मज्ञानसे विशेष होती है। अध्यात्मज्ञानसे सहजानंद प्रगटता है, और अध्यात्म भावनासे आत्माका निश्चय होता है। फिर काल भय भी मिट जाता है। अध्यात्मज्ञानसे जन्म, जरा और मरणके बंधनभी नष्ट होते हैं। श्री आनंदघनजी महाराजभी आत्मध्यानमें मग्न होके, आनंदमें आके, निश्चयसे कहते हैं कि, "हम अमर होवेगें पुनः पुनः मरेगें नही ऐसे रहस्यका पद उन्होंने गाया है, सोयहां लिखनेमें आता है।

(पद) राग सारंग अथवा अशावरी ॥

अब हम अमर भये न मरेंगे ॥ अब ॥
या कारण मिथ्यात दियो तज, क्युं कर देह धरेंगे ॥अब.॥१॥
राग दोष जग बंध करत हैं, इनको नाश करेंगे ॥
मर्यो अनंत काल तें प्रानी, सो हम काल करेंगे ॥अब.॥२॥
देह विनाशी हुं अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे ॥
श्री जासी हम थिर वासी, चोखे व्हे निकरेंगे ॥अब.॥३॥
मर्यो अनंतवार विन समज्यो, अब सुख दुःख विसरग ॥
आनंदघन निपट निका अक्षर दो, नहीं समरेसो मरेंगे ॥अ.४॥

भावार्थ–सुगम है, तो समजमें न आवे तो उसका अर्थ गुरुगमसें धारलेना। जो भव्य (जन) अध्यात्मज्ञानी हैं,

वह अवश्य सहजानंदके भोक्ता बनते हैं। कितनेक अध्यात्म ज्ञानके कुछ ज्ञाता होके, व्यवहार मार्गपर अरुचि रखते हैं, और साधु साध्वी के बजायभी आप गृहस्थाश्रमी होते अपनेको श्रेष्ठ समजते हैं। वे मिथ्या ज्ञानमे पडे हैं। कोई ऐसा कहेकि, अभी साधु साध्वी कहां है ? तो उसके वचनसे समजना कि, वह महा मिथ्यात्वी है, वैसी कुश्रद्धा वालेका संग नहीं करना। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावानुसार अभीभी साधु साध्वीका मार्ग विद्यमान है। जो पूर्ण अहो, वह साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप तीर्थको अवश्य जरूर मानता है, और तीर्थंकर समान गिनता है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षिके मनमें दुर्ध्यान हुआ, तब अन्तमें मनके मन हीमें युद्ध करके, अखीरमे शत्रुको मारनेके वास्ते मुकुट उठानेका विचार किया, परन्तु मस्तकतो मुंड था, तत्पश्चात् दीक्षावस्था याद आई, और पश्चाताप करने लगे, निर्मल भावना भाते शुक्ल ध्यानकी प्राप्तिसे केवलज्ञान पाये। वैसे और भव्य जीवोंभी वेष धर्ममें स्थिर करे। द्रव्यसेभी मुनिपना मिलना महा दुर्लभ्य—कठिन है, वडे पुण्यके उदयसे मिलता है इस लिये साधु साध्वीकी भक्ति करना। तात्पर्य कि, अध्यात्मज्ञान पाके व्यवहारका उच्छेद नही करना। व्यवहार और निश्चय नय है, वेतो चंद्र व सूर्यके समान सदाकाल विजयवंत वर्तते हैं। इस समाधिशतक ग्रंथका पुनः २ वांचन

और मनन करना। ये ग्रंथ मननके योगसे घटमें समाधि भावरूप स्वस्वभावका पादुर्भाव होगा। श्रीयशोविजयजी उपाध्यायजीने यहसमाधितक दोधक छंदमें, संस्कृत समाधिशतक मेंसे उद्धार करके रचा है। ये समाधिशतकका भावार्थ जो भव्य अपने हृदयमें धारण करेगा, औरोको करावेगा, वे कल्याणकी परंपराको पावेगा। एक वार वांचना, दो वार वांचना, वारंवार पुनः २ समाधिशतकका विवेचन वांचना, उसका स्मरण करना और उसका निदिध्यासन करना। प्रमादका त्याग करके स्वात्म रमणमें आयु व्यतीत करना। वार २ मनुष्यावतार मिलना महा कठिन है। अनंतकालसे यह जीव चौराशी लक्ष जीवायोनिमें परिभ्रमण करता है। उसका कारण अज्ञानावस्था है। यह अज्ञानावस्थाके निवारणके वास्ते, सम्यग् ज्ञानसे मोहनीय कर्मका क्षय करना, चारित्रयस्थाका अंगिकार करना। समकित दायक अरूमहाराजकी आज्ञानुसार प्रवर्तके, आत्मधर्मका सेवन करना। श्रुतज्ञान है, यह अनुभव ज्ञान तथा केवल ज्ञानका हेतु है। वास्ते क्षयोपशम भावसे प्राप्त होते मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानसे अहंकार न करना। यव्दज्ञानका फल आत्मध्यान है। अनेक प्रकारके तत्त्व ग्रंथो का अभ्यास किया हो, परन्तु आत्मध्यान तथा आत्मसमाधिमें निष्टावान् न हुआ तो, शब्दज्ञानका श्रम वे श्रमरूप जानना। अन्यत्र भी कहा है किः—

शब्दे ब्रह्मणि निष्णातो, न निष्णायात् परे यदि॥
श्रम स्तस्य श्रम फलो, ह्य धेनुमिव रक्षतः ॥१॥

भागवत-एकादश स्कंध ॥

शब्द ब्रह्मसे पर जो आत्मब्रह्म है, वह साध्यकर है। शब्द ब्रह्ममें कुशल हो और परब्रह्ममें कुशल न हो, उसका श्रम फलवाला है। यहां वाखड़ी गौके दृष्टांतवत् जानना। आत्मार्थी जीवोंने वैराग्यसे आत्माको भावना चाहीये। श्रावक व्रत तथा मुनिव्रतका आदर करना, सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, प्रभु पूजा करना, गुरुवंदन तथा गुरुवैयावच्च (सेवा-भक्ति) और गुरुकी भक्ति करना, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका-का बहु मान करना तीर्थ यात्राएं करनी, आश्रव हेतु ओंका त्याग करना, सद्गुरुकी पुन संगति करना व्यवहार तथा निश्चय धर्मका ज्ञान करना, और निश्चय धर्मका आदर करना, भव्य जीवोंको ज्ञानदान देना, ज्ञान क्रियाका अवलंबन करना, क्षयोपशम भावीय ज्ञानका फल ध्यान है और ध्यानका फल वे अनुभव ज्ञान तथा केवल ज्ञानादि गुणोंकी प्रगटता जाननी। निश्चय धर्मका वर्णन है, वे निश्चय धर्मका आदर करनेके लिये है। परंतु व्यवहार धर्मके खंडनके लिये नहीं है। वैसे विशेषसे व्यवहार

धर्मका प्रतिपादन है। वे व्यवहार धर्म जो साधु तथा श्रावकोंका धर्म है, उसके अंगिकार (के-लिये) है। परन्तु वे व्यवहार धर्मका वर्णन कुछ निश्चय धर्मके खड़नके वास्ते नहीं है। व्यवहार और निश्चय धर्मकी गौणता तथा सापेक्ष बुद्धिसे हरेक जीवके अधिकारके अनुसार जानना। व्यवहार धर्म है वे निश्चयका कारण है सापेक्ष बुद्धिसे सर्व सत्य है। उपशम भाव, क्षयोपशम भाव तथा क्षायिक भावमें आत्मिकधर्म मानना, काल, स्वभाव, नियति, कर्म और उद्यम ये पांच कारणोंसे कार्यकी सिद्धि होती है सम्मति तर्कमें कहा है किः—

॥ गाथा ॥

कालो सहाव नियई, पुव्व कयं पुरिस कारणे पंच ॥
समवाये सम्मत्तं, एगंते होई मिच्छत्तं ॥ १ ॥

पांच कारणके समवायसे कार्योत्पत्ति मानते सम्यक्त्व होता है, और एकान्तसे एक २ को कारण मानते मिथ्यात्व जानना। सात नयसे परिपुर्ण ऐसे अनेकान्त दर्शन रूप सागरमें जैसे सरिताए मिलती है, वैसे सर्व दर्शन मिलते हैं। जिस भव्यने स्याद्वाद दर्शन ग्रहण किया, उसने सर्व दर्शन अंगीकार किये, ऐसा स्याद्वाद दृष्टिसे जानना।

इत्येव श्रीशान्तिः शान्ति शान्ति ॐ श्री संखेश्वर पार्श्वनाथाय नमः

श्री ॥ समाप्तोऽयं समाधिशतकम् ॥

॥ ॐ अर्हं ॥

॥ मंगल, अंग-स्वपन्न, हृदय, रत्नावळी ॥

प्रातःस्मरणीय. चारित्र चुडामणी सकल सद्गुण गरिष्ठ.

बालब्रह्मचारी शान्त मूर्त्ति. महात्मा पूज्य मुनिमहाराजजी

श्री. श्री. १००८ श्री. जयविजयजी महाराजके. श्रावक शिष्य.

पालडी निवासी.

रा. रा. श्रीयुत. शेठ. केसरीमलजी भुताजी.

॥ संग्रह कर्त्ता. ॥

नमो अरिहंताणं.

नमो सिद्धाणं.

नमो आयरियाणं.

नमो उवज्झायाणं.

नमो लोए सव्व साहूणं.

एसो पंच नमुक्कारो.

सव्व पावप्पणासणो.

मंगळाणंच सव्वेसिं.

पढमंहवइ मंगलं.

अथ श्री गौतमाष्टक छंद.



॥ वीर जिणेश्वर केरो शिष्य, गौतम नाम जपो निश दीस ॥ जो कीजें गौतमनुं ध्यान तो घर विलसे नवे निधान ॥ १ ॥ गौतमनामे गिरूवर चढे मन वंछित हेला संपजे ॥ गौतम नामें नावे रोग, गौतम नामें सर्व संजोग ॥ २ ॥ जे वेरी विरुआ वंकडा, जस नामें नावे ढुकडा ॥ भूत प्रेत नवि मंडे प्राण, ते गौतमनां करुं वखाण ॥ ३ ॥ गौतम नामें निर्मल काय, गौतम नामें वाधे आय गौतम जिनशासन शणगार, गौतम नामे जय जय कार ॥ ४ ॥ शाल दाल सुरहा घृत गोल मन वंछित कापड तंबोल ॥ घर सुघ रणी निर्मल चित्त ॥ गौतम नामें पुत्र विनीत ॥ ५ ॥ गौतम उदयो अविचल भाण गौतम नाम जपो जगजाण ॥ मोहोटां मंदिर मेरु समान गोतम नामें सफल विहाण ॥ ६ ॥ घर मयगल घोडानी जोड, वारु पोहोंचे वंछित कोड ॥ महियल माने मोहोटाराय ॥ जो तुठे गौतमना पाय ॥ ७ ॥ गौतम प्रणम्यां पातक टले उत्तम नरनी संगति मले ॥ गौतम नामें निर्मल ज्ञान, गौतम नामें वाधे वान ॥ ८ ॥ पुण्यवंत अवधारो सहु, गुरु गौतमना गुण छे बहु ॥ कहे लावण्य समयकर जोड, गौतम तुठे संपति कोड ॥ ९ ॥ इति ॥

अथ त्रेशठशिलाका पुरुषका प्रभातीया.

॥ चोपाईकी देशीमें ॥

॥ प्रहरमें प्रणमुं सरसति माय, वली सद्गुरूने लागुं पाय ॥ त्रेशठ शिलाकानां कहुं नाम जपंतां सिजे काम ॥१॥ प्रथम चोवीस तीर्थंकर जाण. तेह तणे हुं करीश प्रमाण ॥ रुषभ अजितने संभव स्वाम, चोथा अभिनंदन अभिराम ॥२॥ सुमति पद्मप्रभ पूरे आस, सुपार्श्व चंद्रप्रभ द्ये सुख वास ॥ सुविधि शितलने श्रेयांसनाथ, ए छे साचा शिवपुर साथ ॥ ३॥ वासुपूज्य जिन विमल अनंत, धर्म शांति कुंथु अरिहंत, अरमल्लि मुनिसुव्रत स्वाम, एहथी लहियें मुक्ति सुठाम ॥ ४ ॥ नमिनाथ ने मीसरदेव. जस सुरनर नित सारे सेव ॥ पार्श्वनाथ महावीर प्रसिद्ध, तूठा आप अविचल रिद्ध ॥ ५ ॥ हवे नाम चक्रवर्ती तणां, बार चक्री जे शास्त्रे भण्या ॥ पहेलो चक्री भरत नरेश, सुखें साध्या जिणें पट खंडदेश ॥ ६ ॥ बीजो सगर नामें भूपाल, त्रीजो मघवराय सुविशाल, चोथो कहीयें सनतकुमार. देव पदवी पाम्या छे सार ॥ ७ ॥ शांति कुंथु अर त्रणे राय, तीर्थंकर पण पद कहेवाय ॥ सुभूम आटमो चक्री थयो. अति लोभें करी नरकें गयो ॥ ८ ॥ महापद्मराय बुद्धि निधान, हरिषेण दशमो राजान् ॥ अग्यारमो जयनाम नरेश, बारमो ब्रह्मदत्त चक्रेश ॥ ९ ॥ ए बारे

चक्रीसर कह्या, सूत्र सिद्धांत थकी में लह्या ॥ हवे वासुदेव कहुं नवनाम, त्रण खंड जेणें जीत्या ठाम ॥ १० ॥ वीर जीव प्रथम त्रिपृष्ठ, बीजो नृप जाणो द्विपृष्ठ ॥ स्वयंभू पुरुष सिंह पुरुष पुंडरिकराय ॥ ११ ॥ दत्त नारायण कृष्ण नरेश, ए नव हवे बलदेव विशेष ॥ अचल विजय भद्र सुप्रभ भूप, सुदर्शन आनंद नंदनरूप ॥ १२ ॥ पद्मराम ए नव बलदेव, प्रति शत्रु नव प्रति वासुदेव ॥ अश्वग्रीव तारक राजेंद्र, मेरकमधु निशुंभ बलेंद्र ॥ १३ ॥ मल्हादने रावण जरासंध, जीत्यांचक्र चलें तस संध ॥ त्रेशठ संख्या पदवी कही, माता एकशठ ग्रंथें लही ॥ १४ ॥ पिता बावनने शाठ शरीर, ओगणशाठ जीव-महाधीर ॥ पंच वरण तीर्थंकर जाण, चक्री सो वनवान वखाण ॥ १५ ॥ वासुदेव नव शामल वान, उज्ज्वल तनु बलदेव प्रधान ॥ तीर्थंकर मुक्ति पद वरया, आठ चक्री साथें संचरया ॥ १६ ॥ बलदेव आठ बली तेनी साथ, शिवपद लीधुं हाथोहाथ ॥ मघवा सनतकुमार सुरलोक, त्रीजे सुख विलसे गत शोक ॥ १७ ॥ नवमो बलदेव ब्रह्म निवास, वासुदेव सहु अधोगति वास ॥ अष्टमो बारमो चक्री साथ, प्रति वासुदेव समा नरनाथ ॥ १८ ॥ सुरवर सुखशाता भोगवी, नारकी दुःख व्यथा अनुभवी ॥ अनुक्रमें कर्म सैन्य जयकरी, नरवर चतुरंगी सुखवरी ॥ १९ ॥ सद्गुरु जोगें क्षायिक भाव, दर्शन ज्ञान भवो दधिनाव ॥ आरोही शिवमंदिरे

वसे, अनंत चतुष्टय तव उल्लसे ॥ २० ॥ लेशे अक्षयपद निर्वाण सिद्ध सर्वे मुज द्यो कल्याण ॥ उत्तम नाम जपो नरनार, स्वरूप चंद्र लहे जय जयकार ॥ २१ ॥

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतम प्रभु ॥
मंगलं स्थुली भद्रा द्या, जैन धर्मोस्तु मंगलं ॥ १ ॥
अेक जंबु जग जाणियें, बीजा नेमकुमार ॥
त्रीजा वयर वखाणियें, चौथा गौतम धार ॥ २ ॥

अंगूठे अमृतवसे, लब्धि तणो भंडार ॥
जे गुरु गौतम समरियें, मन वंछित फल दातार ॥ ३ ॥
अक्षीण महानिशी लब्धि, केवल श्री करां बुजे ॥
नाम लक्ष्मीमुखे वाणी, तमहं श्री गौतमं स्तुवे ॥ ४ ॥

सिद्ध चक्रना गुण घणा, कहेतां न आवे पार ॥
वंछित पुरे दुःख हरे, वंदु वारं वार ॥ १ ॥

॥ अथ तिर्च्छालोक (याने-

॥ तिर्यग् लोक)	प्रासाद.	बिंब संख्या
नंदिश्वर द्वीप	५२	६४४४८
कुंडल द्वीप	४	४९६
रूचक द्वीप	४	४९६
राजधानी	१६	१९२०
मेरुवन	८०	९६००
चूलिका	५	६००
गजदंत	२०	२४००
देवगुरु उत्तरकुरु	१०	१२००
इषुकार	४	४८०
मानुषोत्तर	४	४८०
वक्षस्कार	८०	९६००
कुलगिरि	३०	३६००
दिग्गज	४०	४८००
दीर्घवैताढय	१७०	२०४००
जंबुप्रमुखदशवृक्ष	११७०	१४०४७०
कांचनगिरि	१००	१२००००
महानदी	७०	८४००
द्रह	८०	९६००
कुंड	३८०	४५६००

॥ अँर्ह ॥

॥ जंबुद्वीपे भरतक्षेत्रे चोवीसी हो गइ उसके नाम.

---

१ श्री केवलज्ञानी.
२ श्री निरवाणीनाथ.
३ श्री सागरनाथ.
४ श्री महाजसनाथ.
५ श्री विमलनाथ.
६ श्री सर्वानुंभुनीनाथ.
७ श्री श्रीधरनाथ.
८ श्री दत्तनाथजी
९ श्री दामोदरनाथजी.
१० श्री सुत्तेजनाथजी.
११ श्री स्वामीनाथजी.
१२ श्री मुनिसुव्रतजी.
१३ श्री सुमतिनाथ.
१४ श्री सीवगतिनाथ.
१५ श्री ऽस्तागनाथ.
१६ श्री नमिस्वरनाथ.
१७ श्री ऽनिलनाथ.
१८ श्री जसोधरनाथ.
१९ श्री कृत्तारथनाथ.
२० श्री जिनेश्वरनाथ.
२१ श्री सुधमतिनाथ.
२२ श्री सीवंकरनाथ.
२३ श्री ऽयदननाथ.
२४ श्री संप्रतिनाथ.

प्रथम चोविसी

॥ ॐ ॥

॥ जंबुद्वीपे वर्त्तमान भरतक्षेत्रे चोविसीके नाम ॥

१ श्री आदिनाथजी.
२ श्री अजितनाथजी.
३ श्री संभवनाथजी.
४ श्री अभिनंदननाथ.
५ श्री सुमतिनाथजी.
६ श्री पद्मप्रभुजी.
७ श्री सुपार्श्वनाथजी.
८ श्री चंद्रप्रभुजी.
९ श्री सुविधिनाथजी.
१० श्री शीतलनाथजी.
११ श्री श्रेयांशनाथजी.
१२ श्री वासुपूज्यजी.
१३ श्री विमलनाथजी.
१४ श्री अनंतनाथजी.
१५ श्री धर्मनाथजी.
१६ श्री शांतिनाथजी.
१७ श्री कुंथुनाथजी.
१८ श्री अरनाथजी.
१९ श्री मल्लिनाथजी.
२० श्री मुनिसुव्रतस्वामी.
२१ श्री नमिनाथजी.
२२ श्री नेमनाथजी.
२३ श्री पार्श्वनाथजी.
२४ श्री महाविरस्वामी.
पुनः वर्द्धमानस्वामी.

बिजी चोविसी फरवी तेहना नाम उपर प्रमाणे गणवा.

जंबुद्विपे भरतक्षेत्रे अनागत (आठि) चोविसी अब होगी उसके नाम है.

---

१ श्री पद्मनाथजी. (पदूमनाथ)
२ श्री सुरदेवजी.
३ श्री सुपार्श्वनाथजी.
४ श्री स्वयंप्रभजी.
५ श्री सर्वानुंभुति.
६ श्री देवश्रुतनाथ.
७ श्री उदयनाथ. (उदयप्रभ)
८ श्री पेढालनाथ.
९ श्री पोटीलनाथ.
१० श्री शतकीर्ति. (श्री सत्यकिर्तिनाथ.)
११ श्री सुव्रतनाथ. (श्री मुनिसुव्रतनाथ)
१२ श्री ममनाथ. (श्री अममनाथ.)
१३ श्री निः कषायनाथ.
१४ श्री निःपुलाकनाथ.
१५ श्री निर्ममनाथ.
१६ श्री चित्रगुप्तनाथ.
१७ श्री समाधिनाथ.

१८ श्री संवरनाथजी.
१९ श्री यशोधरनाथजी.
२० श्री विजयनाथजी.
२१ श्री मल्लिनाथ, मल्लिजिन. (श्री मल्लनाथ)
२२ श्री देवनाथ. (श्री देवजिन)
२३ श्री अनंतवीर्य.
२४ श्री भद्रजिन. (श्री भद्रकस्वामी.
त्रिजी चोविसी करवी तेहना नाम छे.

॥ स्वप्न चोपाइ ॥

॥ दुहा. ॥

पहिलो मन जोइ करि, गुरुमत गुरु अनुसार ॥
नर सति माउ पसाउलें, वोलुं सुपन विचार ॥१॥
प्रथम पोहोर रयणी तणइं, जो सुणामें होय ॥
तासतणो फल शुभऽशुभ, वरस छेह तुं जोय ॥२॥
आठमास विजे पोहोर, त्रीजें तो त्रणमास ॥
चोथें तो एकमास मोजार, इंम कहिइं फलतास ॥३॥
मह उगमते सुपन फल, तो दिनदस मोजार ॥
एकचिते भावें करि, ते सुंणजो नरनार ॥४॥

॥ चोपाई ॥

त्रिणा वंस लेई वाजींत्र, वेडीरथ वेयसेई ॥
निश्चित सीयल सिद्धी तस कारण कहि, सुपनतणो फल
जोजोसहि ॥५॥
वृषभ हस्ति पर्वत प्रासाद, चढियो महिरूप सरि जाम ॥
विष्टा लेपो शरिर आपणो, मुवो रोयोते अति भलो ॥६॥
राजा कुंजर हय वर हेम, वृषभ गाय देखे तस स्वेम ॥
मुगताफल तंबोल सुवस्त्र, सुपन एह धनकाज पवीत्र ॥७॥
हीरा जाचा संख प्रवाल, चंदण दही फुल सुकमाल ॥
सुणो लहि जागी जो रहे, लच्छि वणी नर निश्चय लहे ॥८॥
क्षीर वृक्ष फल्यो अतिभलो, सूर्वे वेसी चढे एकलो ॥
रूडे राखें ते जा लवि, भोगभलो पामें मानवी ॥९॥
आंव निंव वीजा जेटला, तरुवर दीठा फुल्या फल्या ॥
फल भरीया तो महाफल जोय, फुल एकले वृथीज होय ॥१०॥
करे भोजन प्रसाद मझार, अथवा जल धीतरी जाइ पार ॥
पेखेनर सुपनांतर इस्यो, लहे राज्य वंछीत कीसो. ॥ ११ ॥
दीठुं अन्न अने फल छत्र, कन्या कमल अने वाजींत्र. ॥
विद्यामंत्र वलि सिध भणें, पून्य पूर प्रगटयो तेह तणें ॥१२॥
मनुष्य तणो जे खाइ मांस, सुपनमांही तस वाधें वंश. ॥
मस्तक भक्षणें पामे राज, चरण वाहुं भख्य सिजें काज १३॥

बेंडी आसण भागा जाइं, तिहांथी उतरी अलगुं थाइं. ॥
के गामांतर मन नीरली, खेम कुशल घरें आवे वली. ॥१४॥
हासुं हसियो सुपन मझार, तो कलह वाधें घरबार. ॥
गीत ग्यान सुपनो जे करे, सोक तणो फल ते कर धरे. ॥१५॥
अंजन आंखी आंख निरोग, महिला मरे तो लछी विजोग
सुपनांतर लहिइं जे जिस्यां, बोल्यां फल पामे जे इस्यां ॥१६॥
दांत पडया दिठा नहीं भला, गुंथ्या केश थया मोकला. ॥
जे नरनारी एम देखंत, गरथ हांणी के व्याधी लहंत ॥१७॥
वेडु सावज नें वली ढोर, भूत प्रेत व्यंतर नें चोर. ॥
तेहने बीहाव्यो विहनो घणुं, राजभय फल सुहणा तणुं ॥१८॥
महीष उंट खर कीधां जेन, जे देखेतो नहिं प्रधान ॥
तेह चढी दक्षीण दिसें जाय, मरे ते दीन थोडा मांही. ॥१९॥
तेल धुलि दुध लेई निज अंग, मर्दन करी वली बहु अंग ॥
देखी एह सुहणानो जोग, तों पामे नर रोग विजोग. ॥२०॥
रक्त वस्त्र राति वरमाल, पहिरी दिसे अबला बाल.
एह सुहणानो पेखण हार, पामे मरण तिको निरधार. ॥२१॥
पीलां अंबर पहेरीसार. पीलो अंगतणो सिणगार ॥
धवल फूल कंठे जे धरे, इसी नारि दिठी दुःख करें ॥२२॥
धवलमाल धवलो सिणगार, धवल वस्त्र पेहरी वरनार ॥
सुहणें जे दीसे मलपती, लहें लछी लीला वीलसती ॥२३॥
काल अंबर पहेरी अंग, कालावेस लीआ बहु भंग ॥

कालो अंग तणो आकार, मरण लहेंते दिठी नार ॥ २४ ॥
रवी ससी मंडल देखें जेह, रोग रहीत नर थाय तेह ॥
रोग नहीतो संपत्ती लहें, सुपन तणो फल कवी इम कहें ॥२५॥
धोलो सर्प दंसे जेवर अंग, वलि विशेपे जिमणें अंग ॥
सहस लाभ तस अर्थह तणो, कालो सर्प्प दिठो नही भलो ॥२६॥
घोडाकु कडानें क्रोंच, साहस हंस मोर अपंच ॥
अेहना दर्शन जे देखीइ, गरथ सहीत कन्या पेखीइं ॥ २७ ॥
पगें वेडी हाथे दसकला, विजाइं, वंधण सवि भलां ॥
देखें सुपन तणो फल जोय, पूत्र अनें फल पामें सोय ॥२८॥
हर्ष वदन जिन प्रतिमा ताम, अवल देव वलि दर्शन जाम ॥
जोवो फल अेणें सुहणा तणो, सयलकाज सिज्जे मन तणो ॥२९॥
सालि गांहु सरसवनें जवार, दीठा सुपन हुअे धनकार ॥
घी सुंहणें देखतो भलो, तेहिज पीधो नहीं अतिभलो ॥३०॥
विंछी जलो नोलने साप, डंक दीये ज्युं आवि आप ॥
इणें सुंहणें सुणजो नरनार, पूत्र लाभकू वाधे आय ॥३१॥
खीर खांड घी मन उछाहे, वेसि जिमें सरोवर मांहे ॥
इंम देखीने जागें जाम, राय मान फल पांमें तांम ॥३२॥
दही जीमें जो सूपन मझार. वणी रिधी पामें संसार ॥
सेठी कढीओ पीअे दुध, लहें सुख तणी सुंहणें सुध ॥३३॥
आंत्र आपणें वींटे गाम, लहें राज्यके संपदा ठांम ॥
मदिरा रुधीर पीए नर जेह, विद्याके धन पामें तेह ॥३४॥

धुम रहित अग्निनी झाल, फूलतणी वली देखें माल ॥
सुहणुं ईणीपरें जे नर लहें, भला भोग तस कारण कहें ॥३५॥
खाट पाटनें रथ आपणां, वलतां दिसें तो अति भला ॥
सयल सिधी पामें ते सदा, मनवंछीत मंदिर संपदा ॥३६॥
मिलीय नारीनें गावें धवल, एहवुं भलुं नहीं सुपन ॥
धूम सहित दिठी जो आग, रोग सोग कही वात सलाग ॥३७॥
छास कपास हाडनें छारि, एटाली धोलां सहू सार ॥
गाय हस्ति गुरु तु खार, एवजिंत सहू कृश असार ॥३८॥
तपित पोवन रुपीदेवता, सुंहणें गाइ मायनें पीता ॥
आवी वचन कहें जे जीस्यो, लहीई फल निश्चय तेतिसो॥३९॥
ईम जाणें में धूमज पीध, सघलुं कार्य तेहवुं सिध ॥
एणीपरें कह्यो सुपन विचार, शास्त्रतणो लेई आधार ॥४०॥
ग्यानीसील पंडीत जयवंत, तस हीर गुरु मणमी एकंत ॥
संवत् पनर साएठा माहिं कही, सुहणा फल सुणज्यो चोपाई॥४१॥
भणस्यें गुणस्यें जे नरनार, तस घर मंगळ नवरच्यार ॥
सुपन विचार वली सोलहें, मुनिवर सिंघ कुसल इणीपरें कहें॥४२॥

॥ इति श्री सुपन विचार चोपाईः समाप्तम् ॥

यह चोपाइ सवंत १५६० में सिंह कुसलजीनें रचि है.

जीर्ण पुस्तकके पांनाओ उपरसें यह लिखी हे यह भाषा पुराणी, (जुनी) हें, इसलिये-ए-के बदले बहोत जगह-इ-का उपयोग कीया है ताहमभी यदी समझमें न आवे तो जाणकारके पास समझ लेना । किं बहना.

॥ ॐ अर्हं ॥

॥ श्री जीवदया छंदः ॥

सयल तीर्थंकर करुं प्रणाम, श्री गुरु केरुं समरु नाम. ॥
सारद वाणी आपो सार, पभाणुं दया धर्म्म विच्यार ॥१॥
जीव दया पालो सहु कोय, जीव दया विण मुक्ति न होय; ॥
जीवदया जिन शासन भणी, जीवदया जिन धर्म तणी. ॥२॥
आप समाणा सघला जीव, लेखवीए मन शुद्ध सदीव; ॥
आपण मरवा नवि हींडीइं, तो बीजानें किम दुहवीइ. ॥ ३ ॥
अणगल जल नवि अंघोलीइं, अणगल वस्त्र नपखालीइं ॥
अणगल पांणी नवि पीजीइं, गलणुं पण एहवुं लिजीयें ॥४॥
पहोलपणें जे अंगुल वीस, लांबपणें ते आंगुल त्रीस ॥
अति कातुं वेवड वालीइं, एहवें गलणे जल गालीइं ॥ ५ ॥
गलतां झालक नवि नांखीइं, बहु परिं जल करी राखीइं ॥
जे पाणी जीहां थकी आणीइं, ते पाणि तिहां पोचाडीइं ॥६॥

संखारो मम मुकवो, खारुं मीठुं मम लेखवो ॥
इम साचवो थइ सावधान, जिम पामो देवविमान ॥ ७ ॥
फागुण पुठें तल वेपार, पुन्यवंत न करें निरधार ॥
घाणीनु ते पाप अनंत, इम जाणी वरजो ते संत ॥ ८ ॥
मुढपणें जुं नवि मारिइं, कांसकी (कांकसो) सीर वाहवो वारिइं॥
लीख फोडवी नवि धारिइं, ठणको देतां भव हारीइं ॥ ९ ॥
दीवा मांहे पडे पतंग, दीवे ढांकण मुको चंग ॥
वळी चोमासइ अती जालवो हींसा दोष अती टालवो ॥१०॥
सोल पोहोर उपर दही, वरजो ते मानव भव लही ॥
ते मांहे जीव उपजें सही, ते वावरतां खोड जिन कही ॥११॥
इंधण सोधीने वावरो, वनसपति छेदन मम करो ॥
माणस चोपदनो व्यवसाय, करतां पापनो संचे थायें ॥१२॥
मेंण लुण महुडां विषगली, मणसल लाख वरजो वलीवली ॥
पोईस चांमर मोति शंख दंत्त. आगरे जई न वोहरें संत्त ॥१३॥
रात्रि भोजन वारो सहु, रात्री भोजननो दोष छे बहु ॥
भोजनमां जो कीडि खाइं, मती हीण मुर्ख ते थाय ॥ १४ ॥
जु आवें जलोदर थाय, कोलीया वडे कुष्ट कहेवाय ॥
माखी वमन करावें सही, ओ वात वैद्यकमां कही ॥ १५ ॥
हवे निसूणो मार्कंड पूरांण, भोजन जल रात्रे अ प्रमाण ॥
रात्रि आहुति नवि किजीइं, पिंड दांन पणि नवि दिजीइ ॥१६॥
स्नांन करवुं पणि राहि, देव पूजा रात्रि नवि कही ॥

सूर्य साखें दानादि सुभ कर्म, मांनो शास्त्र तणो अे मर्म ॥१७॥
पडे पतंग प्रमुख बहु जीव, दीवा तेजे करता रीव ॥
जिनवर वचन विचारें जेह, जांण न खाअे रात्रिअे तेह ॥१८॥
अथांणा वोलनुं मोटुं पाप, अनंत कायनुं टालो व्याप ॥
अभक्ष भक्ष वाल्यो पच्चखाण, पालो सुधि जिनवर आंण ॥१९॥
मद्यमांस मधू मांखण नाम, अे च्यारें विगय नावें काम ॥
वर विष घोलिनें पीजीइं, पण अे च्यारें निवि लिजीइं ॥२०॥
मछी तेलीनें तेरमो, कसाई, अंतज व्यवहारें वमो ॥
मपोसो स्वन कुर्कट मंजार, अे जीव करइं घणांनो आहार॥२१॥
सडयां अन्न धान ते न दलावीइं, सोधीनें वळरावीइं ॥
चुले चंद्रवो बंधाइं, जीवदया अेणीपरें भावीई ॥ २२ ॥
जीवदयाना छे बहु भेद, जुओ सीद्धांत पुरांणनें वेद ॥
दयावंत लहें सुख संतान, अनुक्रमें पामें अमर विमान ॥२३॥
तपगच्छ श्री विजयदेवसूरिंद, तसपाटें विजयसिंह मुणिंद ॥
वाचक भानुचंद्र शिष्यसार, कहें विवेकचंद अेह विचार ॥२४॥

इति श्री जीवदयाकी सीखामण समाप्तम् ॥

॥ अथ अंग फुरके उसका शुभाऽशुभ लक्षण ॥

॥ अंग फुरके उसकी चोपाई ॥

———

जिर्णपाना उपरसे.

साग्दा सरसति नमी करी, चोपाई छंद छोड संखेव ॥
नर नारीनां अंग उपांग, फुरकें तास फलाफल चंग ॥१॥
माथुं फरकें मयविराज, लहें अविचल सिधां काज ॥
भाल फूरकें सजन दृधि, दिनदिन थाइं सूख समृधि ॥२॥
पांपण फूरकें तो सुख संपजें, थांनक बेठां लक्ष्मी भजें ॥
नाक आंख विचें फुरकें जेह, प्रीयसंगम होइ अविहड नेह ॥३॥
विहुं आंख विचें फुरकें जाम, तो अणचिंतव्यो थाइं काम ॥
नयण विचार कहुं हवें जुओ, शास्त्र वेदनो लेई दूहो ॥४॥
जिमणी आंख फूरकें उपरें, तो जस लाभ सुख अनुंसरें ॥
हांनि अनें भय होइं नें, निचलि फुरकें भय होय ॥५॥
आंख मद्धिं फुरके मांहिली, सुख संभोग मंडाविइं ॥
निंची फुरकें तो फल पांमिइं, उपर भय दुःख थाय.
इंणिपरें नेत्रनो के हो विगताय ॥६॥
नाकतणी दांडी जव फूरें, तव आपणनें बहु सुख करें ॥
निचि फुरकें जव नाशिका, तव आपें सुखनिं आसिका ॥७॥
लवणो फुरके लखमी लछ, पांमें दूधदहीनें छास ॥
कांन फुरकें तो सूवचन सुणें, रुडीवात दिशोदिश भणें ॥८॥
गाल फुरकें तो महिलानो भोग, अथवा शुभ भोजन संजोग॥
होठ फुरकें जव उपरें, तव कलह अणचिंतव्यो करें ॥९॥

मुख फुरकें तो मिष्टांनज लहें, अधर फुरकें तोऽस्त्रीसंगम कहें ॥
भोग लहें जेहेडकी फरें, होठ फुरकें बोलें बुरुं ॥१०॥
गलुं फरकें तो जव नरनारि, वस्तर आभरण कहें विणवार॥
गावड फुरकें तो फलहोइं बुरुं, ए फल देखो अंगनो खरुं॥११॥
कंध फूरकें तो कह्यो मांन अनंत, लाभभोग होइं फुरकें खंति॥
काख फूरकें तो होइं धनहांण, एहवि शास्त्र निवांणि ॥१२॥
पसवाडा फूरकें तिणें समें, वल्लभवात सुणावें तिसें ॥
पूठ फूरकें तो वैरी मरें, काज सरवें घर वेठां सरे ॥१३॥
बाह फूरकें तो प्रियनोमेल, कुंहणी फुरकें तो सुखसुं भेल ॥
हाथ फूरकें तोटलें आपदा, फुरकें हथेलिदिइं संपदा ॥१४॥
पुंहचो फूरकें आवे संपदानें मीत्र, अथवा किंमपि वधारे मित ॥
आंगुली फुरकें एह विचार, ततकाल वैरी जयकार ॥१५॥
हीउं फुरकें लाभ वखाण, थांन फुरके सर्व सुख जाण ॥
पेट फुरकें वैरी जयकार, डूंटी फुरकें पायविहार ॥१६॥
गुंज फुरकें वयरीहांण, पामें महिला भोग वखाण ॥
कडिड फुरकें तो पामें वस्त्र, साथलफुर्कें बंधन शस्त्र ॥१७॥
गोडो फूरकें बाहर चढो, जांघ फुरकें पालो आथडे ॥
पेंडी फूरकें संपदा वृद्धि, अथवा कोई अचिंति सिधी ॥१८॥
पग फुरकें संपदा होइ, पगतलिं फूरकें सवि सुख होइं ॥
पग आंगुलि फुरकें जव अवसरें, तव अभिष्ट आवि घर भरें॥१९॥

जिमणो अंग भलो नरतणो, वाम अंग फलनारी तणो ॥
तपगच्छ गयण पद गणी इस, इंम कहें सोमसुंदर शिष्य॥२०॥

॥ इति श्री अंग फुरकण विचार, समाप्तम् ॥

जुनी भाषाका साहित्य कायम रहे इसलिये जुनी भाषा कायम रखीहे जीर्ण पाना उपरसें यह नकल कीहे ॥

॥ अंग फुरक वाना शुभाऽशुभ लक्षण ॥

॥ अंग विचार संपूर्णम् ॥

॥ अथ उपधाननुं स्तवन ॥

ढाळ १ ली. देशी त्रुटकनी.

श्री वीरजिणेश्वर सुपरे दीये उपदेश॥ सुणे बार परखदा नहीं परमाद प्रवेश ॥ सुणजोरे श्रावक जो वहीअे उपधान ॥ नवकार गण्या तो सुजे सुगुण निधान ॥ १ ॥ त्रुटक ॥ पडिकमणुं किरियातो सुजे जो वहीए उपधान ॥ इंम जाणी उपधान वहो तुमे श्रावक थइ सावधान ॥ २ ॥ नोकार तणो तप पहेलुं अढारीतुं होय ॥ ईरिया वहीनो तप बीजुं अढारीउं जोय ॥ ए बेहु उपधाने दिन अढार अढार ॥ उपवास एकासण तप होय साढाबार ॥ ३ ॥ त्रुटक ॥ साढा बार

उपवास ते कीजे गुरु मुख पोसो लीजे ॥ चोथ एकंतर एक एकासणुं पाप पडल सवी छीजे ॥ ४ ॥ अे वेहु उपधानमें मांडी नांद मंडाण ॥ पूजा परभावना उछव करो सुजाण ॥ किरिया सवि सुधी सासुनी रेहणी रहीअे ॥ देहरे देव वांदो सुमति गुपति निर वहीए ॥ ५ ॥ सुमति गुपति सुपरि आराधो चैत्य वंदण न वीसारो ॥ दोय सहस नोकार गणीने पोरसी भणी संथारो ॥ ६ ॥ पांचे उपवासे पहेली वायण होय ॥ तप पूरे बीजी गुरु मुख लीजे सोय ॥ एहुं जो छंडे तो तस दिहाडो वाधे ॥ तिम मुहपती पाडे जो सोधंतां नवि लाधे ॥ ७ ॥ तिम अकाल सजाइ वमने दिहाडो लेखे नावे ॥ जीवधात विकथा हास्यादिकतो आलोयण आवे ॥ ८ ॥ अरिहंत चेईयाणं चोकीयुं तस उपधान ॥ उपवासने आंबिल चार दिवसनुं मान ॥ उपवास अढीजव तप संपूरण थाय ॥ वायणा तव लीजे पामी सुगुरु पसाय ॥ ९ ॥ सुगुरु पसाय छकीयुं कहीअे सात दिवस परिमाण ॥ वे उपवासे पूरव वरली अढी ए सिद्धाणं बुद्धाणं ॥ १० ॥

ढाल २ जी–देशी उधारनी ॥

भाइ हवे माल पहेरावो । साहमी साहमिणने नोतरावो ॥
भला भोजन भक्ति करावो ॥ रुपानी रकेवी घडावो ॥१॥